सहजानंद शास्त्रमाला

सूत्रपाहुड़ प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहजानन्द शास्त्रमाला

सूत्रपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता:—
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

प्रकाशक:—
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

स्करण १०००]

[लागत बिना जिल्द २)५० रु०
जिल्द का पृथक्   ५० पै०

* आत्म-कीर्तन *

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥ टेक ॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान ।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक-बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा ।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

Version 1

सूत्रपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ।। १ ।।

(१) **आगमकी अर्हद्भाषितता**—यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित सूत्र पाहुड नामका ग्रन्थ है। इसमें सूत्र अर्थात् आगमके संबंधमें वर्णन किया गया है, क्योंकि तीर्थंप्रवृत्तिका आधार आगम होता है। जैसा कि अनेक प्रत्येक मतोंमें उनके माने हुए शास्त्र उनकी विधियों का आधार है। तो ऐसे ही मोक्षमार्गमें लगनेके लिए जो ज्ञान आवश्यक है उस ज्ञानका आधार आगम है। उस आगमका इस पाहुडमें वर्णन चलेगा। सर्वप्रथम लगता है कि जो अरहंत देव कह गए, जिसका अर्थ अरहंतके द्वारा भाषित है। प्रभु एक-एक शब्द बोलकर कुछ वाक्य नहीं बोला करते हैं। उनके तो दिव्यध्वनि खिरती है। पहले जो आगमका ज्ञान था, द्वादशाङ्गका बोध था उसका स्पष्ट अभ्यास था मुनि अवस्थामें वह सब अब यहाँ दिव्यध्वनिके रूपमें प्रकट हुआ। द्वादशांगका ज्ञान बताया तो यों है कि किसी मुनिके न भी हो तो भी केवलज्ञान हो जाता है, किन्तु सूक्ष्मतासे हम ऐसा समझते हैं कि श्रुत ज्ञानावरणका क्षयोपशम बढ़ता ही जाता है जैसा कि वह गुणस्थानोंमें बढ़ता है और १२ वें गुणस्थानमें श्रुत ज्ञानावरणका क्षय हो जाता है। अन्तमें उस क्षय होनेसे पहले और क्षयोपशम बढ़े हुए की स्थितिमें, लब्धिमें, योग्यतामें द्वादशाङ्गका सभीको बोध हो जाता होगा, किन्तु उसका व्यवहार नहीं बनता, क्योंकि वह कुछ ही समयकी बात है। इसलिए उनका द्वादशाङ्ग प्रसिद्ध नहीं है और न द्वादशाङ्गके ज्ञातापनेका सबमें व्यवहार होता है। तो जो भी अरहंत

हुए हैं और जिनकी दिव्यध्वनि खिरती है सबकी दिव्यध्वनिमें द्वादशाङ्गकी रचना बनती है। प्रभु तो केवल दिव्यध्वनि ही करते हैं। करते भी क्या हैं? भव्य जीवोंके भाग्यके उदय से और प्रभुके वचनयोगके निमित्तसे दिव्यध्वनि बनती है। जैसे मेघ कुछ कल्पना नहीं कर पाते, न करते हैं, न कर सकते हैं किन्तु जहांके जीवोंका भाग्य होता है यथोचित वहाँ बरस जाते हैं, वहीं पहुंच जाते हैं, और इसी प्रकार उनकी गर्जना भी बिना कल्पनाके होती है। तो अरहंत भगवानके सर्वाङ्गसे एक ध्वनि होती है समयपर उस ध्वनिको जो लोग सुनते हैं वे अपनी बुद्धिके माफिक अपनी शंकाका समाधान करते हैं और अर्थ समझते हैं। दिव्यध्वनिसे सभी लोग पूरा समझें ऐसा नहीं होता। जिसकी जितनी योग्यता है वह उतना समझता है, पर गणधरदेव उस दिव्यध्वनिसे पूरा द्वादशांगका अर्थ समझते हैं।

(२) **दिव्यध्वनिकी निरक्षरतापर विचार**—दिव्यध्वनिके सम्बन्धमें दो बातें आती हैं। एक मतसे तो वह निरक्षरी भाषा है, उसमें कोई अक्षर नहीं, किन्तु मेघ गर्जनावत् ॐ ध्वनि रूप है और एक मतसे सर्व अक्षरों रूप ध्वनि है अथवा जो विशिष्ट अनेक संयोगी अक्षर वाले मंत्र हैं। एक एक स्वर वाले, उस रूपसे ध्वनि बनती है जैसे ॐ, ह्रीं आदि। तो उन दोनों सिद्धान्तोंसे एक बात यह स्पष्ट होती है कि वह भाषा निरक्षरी है अथवा सर्वाक्षरी है, पर मोटे रूपसे विचार करें तो जो सर्वाक्षरी हो वह निरक्षरी ही कहलाता है। अगर रागी पुरुषोंकी भाँति अलग-अलग अक्षर बोले जाते हों तब तो उसका व्यवहार बनता है और जहाँ सभी अक्षर एक साथ बोले हो, वहाँ कोई अक्षर न रहा और इसी कारण निरक्षरी शब्दके दो अर्थ किए जा सकते हैं। निर मायने रहित अर्थात् अक्षर रहित अथवा निर मायने समस्त। संधि होते समय स से र होता है, निर शब्द है और निरक्षर बनता है मायने समस्त अक्षरों सहित, निरक्षर शब्दके दो अर्थ हैं—(१) अक्षर रहित और (२) सर्व अक्षरोंसे सहित, ऐसी दिव्यध्वनि अरहंत प्रभुके सर्वांगसे प्रकट होती है। जहाँ सर्वांगसे प्रकट हुई तो क्या मुख खाली रहेगा? अरे मुखसे भी प्रकट हुई और मनुष्योंके तो मुखसे ही निकलती है भाषा अतएव यह भी लिखा गया है कि भगवानके मुखसे निकली हुई भाषा, वह है दिव्यध्वनि।

(३) **द्वादशाङ्गकी गणधर ग्रन्थितता**—प्रभुके द्वारा जो दिव्यध्वनि हुई उसको गणधरदेवने भले प्रकार ग्रन्थमें गूँथा। तो आज जो आगम है वह सब आगम मूलमें तो तीर्थंकर प्रभुसे निकला हुआ है। उसे गणधरदेवने लिया, गूँथा, गणधर देवसे आचार्योंने लिया और मौखिक बात चल रही, उनसे फिर अन्य आचार्योंने लिया। जब लिपि करना आवश्यक हुआ तो आचार्योंने लिपि की और उस परम्परासे आज भी आगम चला आ रहा है। तो इस

आगमके मूल कर्ता तीर्थंकर परमदेव, अरहंतदेव है, उत्तर कर्ता गणधरदेव हैं। उसके बाद उत्तरोत्तर कर्ता अनेक आचार्य हुए हैं।

(४) अनुभव व आगमकी समानताका उदाहरण पूर्वक समर्थन—

आज भी अगर परखते हैं ७ तत्त्वोंके विषयमें, तो जो अनुभवमें उतरता है, वही आगम में मिलता है, जो आगम में लिखा है वही अनुभव में आ रहा है, बिल्कुल सही मिल जाता है। जैसे—जीव क्या है ? एक चैतन्यमूर्ति, चैतन्यमात्र, जिसका स्वरूप प्रतिभासन है, और कुछ स्वरूप नहीं है, कल्पना रागद्वेष ये स्वरूप नहीं है, यह तो उपाधिके सान्निध्यसे विकार प्रतिफलित हुआ है। जैसे कोई पूछे कि बताओ दर्पणका असली स्वरूप क्या है ? तो दर्पणका स्वरूप है झलझलाहट, चकचकाहट और उसमें जो फोटो आ रहा है, क्या वह दर्पणका स्वरूप है ? दर्पणका स्वरूप नहीं, किन्तु वह ऐसा ही झलझलाहट वाला पदार्थ है कि जिस उपाधिके उपस्थित होनेपर उसके अनुरूप अपनेमें विकार कर लेता है। विकार एक विकृत कला तो है पर दर्पणका स्वरूप नहीं है, ऐसे ही जो विकार जगते हैं वे आत्माकी विकृत कलायें तो हैं किन्तु आत्माका स्वरूप नहीं हैं। जो आगममें बताया है स्वरूपतः पदार्थ अविकार होता है। अनुभव करने पर वह सही जँचा। आगममें बताया है कि कर्मविपाकका निमित्त पाकर वे विकार हुआ करते हैं। युक्ति ने यह बात सिद्ध कर दी कि उपाधिका सान्निध्य हुए बिना एक पदार्थमें विकार आ ही नहीं सकते और इसी कारण ये मिट सकते हैं। विकार यदि औपाधिक न हों तो ये कभी मिट भी न सकेंगे, क्योंकि वे तो पदार्थमें स्वभावतः हुए हैं, मिटनेका कोई उपाय ही नहीं, सामने भी देखते हैं कि दर्पणके सामने हाथ आया तो हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ गया, हाथ हटाया कि दर्पणमें से प्रतिबिम्ब हट गया। यद्यपि हाथ कई हाथ दूर है और उस हाथकी गति दर्पण तक नहीं है। हाथ बहुत दूर, दर्पण बहुत दूर हाथने फोटो बनाया भी नहीं है। हाथ तो सामने हाजिर भर है और वह कुछ करता है तो अपनेमें अपना ही काम करता है, दर्पणमें कुछ नहीं करने जाता मगर निमित्त नैमित्तिक योग तो देखो कितना स्पष्ट विदित हो रहा है कि उस हाथका सामने सन्निधान पाकर दर्पणमें उस प्रकारका फोटो आया, वह फोटो औपाधिक है। दर्पणका स्वभाव नहीं है, दर्पणका चूंकि स्वभाव नहीं है इस कारण वह फोटो नष्ट हो जाता है। विलीन हो जाता है। हट जाता है। अब दर्पणमें ही अगर किसीमें खोट हो, जैसे कोई कोई दर्पण भीतरमें कोई बिन्दु वाला है वे दर्पणके ही बिन्दु हैं, उस कांचमें ही कुछ ऐसी भीतरमें खराबी आयी कि वह बिन्दु सा हो गया, कुछ उठा सा लग रहा, उसे तो कोई मिटाये तो वह मिटता ही नहीं। तो ऐसा आत्मामें नहीं है कि आत्माके ही स्वरूपके

कारण कोई आत्मामें खोट आ जाय । वैसे तो दर्पण कोई पदार्थ नहीं है । दर्पण तो पर्याय है, पदार्थ तो पुद्गल परमाणु है । अनेक पुद्गल परमाणुका मिलकर यह दृश्यमान पदार्थ बनता है । तो दर्पण भी द्रव्य नहीं है । अकेला द्रव्य परमाणु है तो वहाँ भी आकार विकार नहीं है, पर इतना फर्क है कि चूंकि परमाणुओंका बंध किसी परपदार्थका निमित्त पाकर नहीं होता, किन्तु परमाणुओंमें ही जो स्निग्ध रूक्ष गुण हैं उनकी ही घटाबढ़ीसे होता है, इस कारण परमाणु एक बार शुद्ध होनेके बाद भी अशुद्ध हो सकता है, किन्तु जीवके विकार का निमित्त बाह्यपदार्थ ही है, स्वयं नहीं है । स्वयंका स्वयंमें होने वाला परिणमन तो विकारका कारण नहीं बनता वह तो स्वाभाविक परिणमन है, इस कारण जीवमें यह स्थिति नहीं आ पाती कि एक बार शुद्ध होकर फिर अशुद्ध हो सके । प्रयोजन यहां यह है कि जीव चैतन्यमात्र है, उसमें विकार नहीं है, चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, यह बात अनुभवमें भी आती है, युक्ति भी बता रही है । यह ही आगममें लिखा है । तो जो हमारे कामकी बातें हैं, जो हमारे अनुभवमें आ सकती हैं वे बातें जब आगमसे बिल्कुल ठीक मिलती हैं तो आगमकी प्रामाणिकता अपने अनुभव बलसे भी हो गई । अब जो ऐसे वीतराग आत्मकल्याण में लगे हुए ऋषि संत है वे किसी असत्य बातको लिखना ही क्यों चाहेंगे ? उनकी कोई खुदगर्जी नहीं है । तो ऐसे अरहंत भगवानके मूलसे चला आया हुआ आगम सूत्र कहलाता है । इसको गणधर देवोंने भली प्रकार गूथा और इस आगमके सहारे श्रमण, साधुजन, आत्महिताभिलाषी भव्य प्राणी अर्थकी खोज करते हैं, तथ्यकी खोज करते हैं, क्योंकि सूत्रकी रचना—आगमकी रचना केवल तत्त्वकी खोजके लिए है, तो सूत्रके अर्थकी खोजके लिए साधु पुरुष अपने परमार्थकी सिद्धि करते हैं और उससे आगे बढ़कर मोक्ष की सिद्धि करते हैं । मनुष्योंको देव, शास्त्र, गुरुमें अटल श्रद्धा हो तो उस श्रद्धाके आधारपर उसके जीवनमें अलौकिक तथ्यका दर्शन हो सकता है, किन्तु जिस पुरुषकी आदत स्वच्छंद है और जरा भी समझमें कोई तत्त्व न आया तो झट यह कहनेको उद्यमी हो जाते हैं कि यह तो गलत है या उनमेंसे एक ही अर्थका एकान्त कर लेते हैं, ऐसे पुरुष अपने जीवनमें आत्मसाधना नहीं बना पाते ।

(५) **ग्रन्थकी मंगलरूपता**—यह ग्रन्थ अरहंतदेवने भाषा है । गणधरदेवने गूथा है और साधुजनोंने उसकी साधना बनाया है । इसकी प्रथम गाथामें स्वयं मंगलाचरण बन गया । मंगलाचरण कोई स्पष्ट शब्दोंमें होता है और कोई तत्त्वदर्शनके रूपमें होता है । ये शास्त्र जिनके आधारसे हम अपना कल्याण करते हैं ये शास्त्र मूलमें अरहंत भगवानसे प्रकट हुए । उनकी महिमा चित्तमें समायी है, यह ही नमस्कार है । इस विशेषणसे यह भी सिद्ध किया गया

Version 1

कि जो वीतराग सर्वज्ञदेव नहीं हैं ऐसे पुरुषोंके द्वारा जो ग्रन्थरचना हुई हो, जिसको दर्शनका रूप दिया गया हो वह दर्शन यथार्थ तत्त्वका प्रतिपादक नहीं है उनके अभ्याससे, उनकी साधना से परमार्थकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि छद्मस्थ पुरुष पदार्थका स्पष्ट ज्ञान नहीं कर पाते। तो जो समझमें आया, जितना ही ध्यानमें आया उतना ही उन्होंने एकान्त करके लिखा।

(६) **पदार्थकी द्रव्यपर्यायात्मकता होनेसे अनेकान्तमयता**—जैसे जीव तत्त्वके बारेमें खूब खोज कर लीजिए, जीव सदा रहने वाला है या नहीं? कमसे कम इतना तो सब अनुभव कर रहे हैं कि जिनकी उमर ६०-७० वर्षकी है वे जान रहे होंगे कि ६०-७० वर्ष पहलेसे मैं वहीका वही जीव हूं और वही रहूंगा। तो एक भवमें तो सभी लोग यह अनुभव किए बैठे हैं कि मैं वहीका वही एक हूं, तो जैसे एक भवका निर्णय बना हुआ है कि मैं वहीका वही एक हूं ऐसे ही यह इस भवको छोड़कर अगले भवके शरीरमें जायगा वहाँ भी यह ही जीव है और यह जीव अनादिसे है, अनन्त काल तक है। जो कुछ नहीं वह प्रकट कैसे हो जायगा? घड़ा भी बना तो मिट्टी थी तो घड़ा रूपमें प्रकट हुआ, वह अवस्था बनी, तो यह जीव अनादिसे है और अनन्त काल तक रहेगा, इस कारण यह नित्य है, किन्तु एक ध्यान और दीजिए कि इस जीवमें भाव अवस्थायें नई नई आती रहती हैं या नहीं। गुणमें भी फर्क आया इस मनुष्य को। बचपनमें किस ढंगकी आदत थी, किस ढंगके विचार थे, किस ढंगकी आदत थी, किस ढंगकी फुर्ती थी और अब आज बड़ी अवस्था होनेपर किस ढंगके भाव हैं, कैसी गम्भीरता है, इस बातमें फर्क है कि नहीं?····है।····तो ऐसे ही इस जीवमें भावोंका नया-नया होना होता ही रहता है। तो चूंकि भाव नये नये होते, पर्यायें नई-नई प्रकट होती हैं, बदलती रहती हैं इस कारण यह जीव अनित्य है। पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है, द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है। अब इस अनेकान्तको स्वीकार न कर जो लोग केवल एक ही धर्मकी हठ कर लेते कि जीव तो अनित्य ही है, ऐसा अनित्य है कि पूर्ण अनित्य है। एक क्षणको ही पैदा हुआ और मिट गया, उसका लगार ही नहीं रहता, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, वे नये-नये जीव आते रहते हैं। तो ऐसा तो किसीके अनुभवमें नहीं है। जो बात सालभर पहलेकी थी या किसीको मानो कुछ द्रव्य (धन) उधार दिया था और वह आज उसका स्मरण करता है कि मुझे इससे इतना लेना है तो वहीका वही जीव है तब ही तो स्मरण हो रहा। अगर नया-नया जीव आये तो आपके द्वारा दिए गएका स्मरण दूसरा कौन करेगा? आपके दिए हुएको हम तो स्मरण नहीं कर पाते। तो जीव एक है किन्तु अवस्थायें हो रही हैं इसलिए अनेक है अथवा सामान्य दृष्टि से सभी जीव एक समान हैं इस कारण एक हैं और अनुभव सबके जुदे-जुदे हैं इस कारणसे अनेक हैं। तो ऐसे अनेकान्तसे पदार्थकी सिद्धि होती है और प्रभुका आगम स्याद्वादसे चिन्हित

है । स्याद्वादसे सबका अर्थ लगाओ । अब रही आत्मकल्याणकी बात सो उसमें से जिस दृष्टि की मुख्यतासे निर्विकल्पता आती हो उस दृष्टिको मुख्य करके साधना बनावें ।

(७) विशाल द्वादशाङ्गके कणके स्वाध्यायका भी महत्त्व——यह आगम अरहंत भगवानके द्वारा भाषित अर्थ वाला है । गणधरदेवने इसको १२ अंगोंमें गूंथा है । १२ अंगों का बहुत बड़ा प्रमाण है । और उसमें इतने संयोगी अक्षर हैं कि जितने अक्षर हैं उन सबका संयोग कर लिया जाय, जैसे हम आपके बोलचालमें कोई ३-४ संयोगी अक्षर हो पाते हैं, जैसे कहा कृष्ण तो संयोगमें कृष्ण ये अक्षर आ पाये, फिर कहा कृत्स्न तो उसमें कृत्स्न ये ४ अक्षर आये, लेकिन वहाँ तो ६४ अक्षरोंका एक-एक संयोग है । भिन्न भिन्न अक्षर ६४ माने गए हैं, प्रसिद्ध तो १६ स्वर हैं और ३२ व्यञ्जन हैं और इनके अलावा जिभ्यामूलीय उपदमानीय आदि ऐसे और भी होते हैं जिनका आजकल कोई प्रचार नहीं है । उर्दूमें कितने ही अक्षरोंके नीचे बिन्दु लगाया जाता जैसे सरीफ़, रफ़ी, फर्क आदि, तो ऐसे भी कुछ चिन्ह हैं जो जिह्वामूलीय कहलाते हैं, उपदमानीय कहलाते हैं । क ख के प्रयोगमें जीभकी जड़में कुछ प्रयत्न होता है । प फ और प फ के बोलनेमें भी कुछ ओंठोंके भीतर यत्न होता है, तो ऐसी ऐसी धातुवों ये सब ६४ अक्षर कहलाते हैं । तो कोई कोई संयोगी ६४ अक्षरोंका बनता है । कैसे क्या होता है यह अपने बोलनेमें नहीं आ सकता इसलिए द्वादशाङ्ग वाणी ग्रन्थोंमें बद्ध नहीं हो पाती । वह तो एक संकेत या बोलनेमें आ पाती है । बोलनेमें भी सुनने वालेको अव्यक्त और उसीके जानने वालेको स्पष्ट रहता है । कितनी ही भाषायें पक्षी बोला करते हैं और कितनी तरहसे बोलते हैं उनमें क्या क्या अक्षर हैं इसे हम आप नहीं पहिचान सकते । फिर वहां तो केवल ज्ञानके साथ ध्वनि है । तो ऐसा महान विशाल सूत्र अर्थ द्वादशाङ्ग, इसके मूलकर्ता अरहंत देव, उत्तरकर्ता गणधर देव और उत्तरोत्तर कर्ता आचार्य देव होते होते चले आये हैं । उन सूत्रोंका अभ्यास करें इस प्रयोजनसे कि इसमें क्या तत्त्व भरा है, क्या तत्त्व कहा गया है । उस तत्त्वपर उपयोग जाय और अपने आपमें अपने हितकी दृष्टिसे मनन किया जाय । यह ही आगमके अभ्यासका प्रयोजन है कि जिस किसी भी प्रकार हो, मेरेको सहज अविकार चैतन्य मात्र अंतस्तत्त्वका अनुभव बने ।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण ।
णाऊण दुविह सुत्तं वट्टई सिवमग्ग जो भव्वो ॥ २ ॥

(८) अरहंत भाषित गणपतिग्रन्थित आगमका हिततथ्य जानकर उसमें प्रयत्नशील की मोक्षमार्गवर्तना—अरहंत भगवानने जो दिव्यध्वनि द्वारा भाषित किया है और गणधर

Version 1

देवने उसे गूंथा है ऐसा दो प्रकारका सूत्र मायने आगम, उसको जानकर जो मनुष्य आत्मानुसारणी प्रवृत्ति करता है वह भव्य मोक्षमार्गमें स्थित है। जो आज आगम है वह भी अरहंत देवके द्वारा भाषित है। गणधर देवके द्वारा गूंथा गया है। आचार्य परम्परासे यही चला आया है। ऐसे दो प्रकारके आगम जो भव्य पढ़ते हैं वे मोक्षमार्गमें स्थित है। कौनसे हैं वे दो प्रकार ? अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंग होते हैं १२ और उन १२ अंगोंसे भी कुछ बचा हुआ है आगम। उसे बोलते हैं अंग बाह्य। जो अंगोंमें है वह तो है अंग और जो अंगसे बहिर्भूत है वह है अंग बाह्य। अंगप्रवृविष्ट और अंगबाह्यका मतलब क्या ? ये सब उनके नाम आयेंगे, उनके नामोंसे विदित होता जायगा। इस गाथाके यहाँ कहनेकी आवश्यकता क्या हुई कि पहली गाथामें यह बताया था कि साधुजन परमार्थ की सिद्धि करते हैं उस आगमके अध्ययनसे। तो एक यह जिज्ञासा हुई कि इस पंचमकालमें भी क्या परमार्थकी सिद्धि करने वाले लोग हैं, क्योंकि गणधरदेवका गूँथा गया जो द्वादशाङ्ग है वह इस समय उपलब्ध नहीं है। भले ही कुछ लोगोंने छोटी-छोटी पुस्तकोंपर नाम रख दिया यह आचाराङ्ग है, यह सूत्रकृताङ्ग है, यह अमुक अंग है, मगर अंगका तो इतना विशाल वर्णन है और इस रूपमें है कि वह तो लिखा ही नहीं जा सकता। उन अंगोंमें जो विषय है वह विषय कुछ आचार्योंने बताया है, पर ये सब आचार्य प्रणीत ग्रन्थ हैं। द्वादशाङ्ग नहीं हैं। पहले समयमें भी द्वादशांग लिखितरूपमें न था, मौखिक था। वह लिखा ही नहीं जा सकता आजकल तो मौखिक भी नहीं है। जब द्वादशांग नहीं है तो मोक्षमार्ग कैसे सधेगा ? उसके समाधानमें यह गाथा दी है कि अरहंतदेवके द्वारा भाषित और गणधर देवके द्वारा गूंथे गए उस द्वादशांग आगममें जो मनोबल विशेष होनेसे, वचन बल विशेष होनेसे मुखजबानी कहा जाता था वह नहीं है मगर उसका कुछ विषय आचार्यपरम्परामें करके जाननेमें तो आ रहा है। जो आज ग्रन्थोंमें उपलब्ध हो रहा है वह उस द्वादशांगका कण बिन्दु है। उसे जानकर जो मोक्षमार्ग साधता है वह मोक्षका रास्ता बना रहा है। भले ही वह इस भवसे मोक्ष न जायगा मगर संस्कार तो बना रहा है।

(६) **इस पञ्चमकालमें प्रारम्भमें केवलिपरम्पराका दिग्दर्शन**—अब इस जगह आचार्य परम्पराकी बात सुनो। वर्द्धमान भगवान जिस समय थे उस समय तो साक्षात् धर्मप्रवृत्ति चल ही रही थी। वहाँ तो परम्पराका सवाल ही क्या ? उनके मोक्ष गए पीछे तीन केवली हुए हैं। वे तीनों ही केवली चौथे कालमें तो उत्पन्न हुए थे और पंचम कालमें केवलज्ञानी हुए हैं और ये तीन केवली परम्परासे हुए हैं। जैसे भगवान महावीरसे सम्बन्ध था गौतमका तो परम्परामें कहलाये वे केवली गौतम गणधर। और फिर गौतम गणधरके बाद

उस परम्परामें सुधर्म गणधर हुए और सुधर्मके बाद जम्बूस्वामी केवली हुए। ये तीन तो परम्परासे केवली हुए, पर यह न जानें कि सिर्फ तीन ही केवली हुए। इसके अलावा और भी केवली हुए। चौथे कालमें उत्पन्न हुए, पंचमकालमें केवलज्ञानी बने, ऐसे और भी हैं, किन्तु उस परम्परामें नहीं हो पाये। ये हो गए। वर्द्धमान भगवानके बाद तुरन्त गौतम हुए उनके बाद दूसरे सुधर्माचार्य हुए, उनके बाद जम्बू स्वामी हुए। वे अलग-अलग स्थानपर भिन्न-भिन्न समयमें केवलज्ञानी हुए हैं जो इन तीनमें नहीं हैं, पर तीनकी बात चली क्यों कि यहाँ परम्परा दिखानेका कथन है। इसके बाद केवलज्ञानी नहीं हुए।

(१०) **पञ्चमकालमें केवलिपरम्परा समाप्त होनेके बाद हुए पांच श्रुतकेवलीका निर्देश**—तीन परम्पराके केवलज्ञानी होनेके बाद ५ श्रुतकेवली हुए जो द्वादशांगके पूर्ण ज्ञाता थे। पहले का नाम विष्णु द्वादशांगके ज्ञानी, दूसरे हुए नन्दि मित्र, समस्त द्वादशांगके ज्ञानी जहाँ द्वादशांगके ज्ञाता कहा वहाँ अंग बाह्यके ज्ञाता ले ही लेना। यद्यपि अंग बाह्य द्वादशांग से थोड़ा अलग है फिर भी इसे लेना। अलग होनेका कारण यह है कि जैसे कोई कुछ रुपये गिन रहा, मान लो ७२५ चाहिए तो ७ तो १००—१०० के नोट हो गए और २५ अलग हो गए जो १०० पूरे नहीं हैं तो वह कहलाया फुटकर ऐसा फुटकर शब्द लोग बोलते भी हैं, तो वे फुटकर रुपये गड्डीसे बाहर हो गए ऐसे ही इसका पद होता है। और एक पदमें लाखों करोड़ों अक्षर हो जाते हैं, इस पदके मायने हमारा विभक्त वाला पद नहीं किन्तु उस के हिसाबसे ६४ अक्षर अलग और २ संयोगी, ३ संयोगी, ४ संयोगी फिर वे भी भिन्न-भिन्न संयोगी, ऐसे ६४ तक संयोगी और वे भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे तो ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे सब अक्षर आ जाये इतने को एक पद कहते हैं। तो द्वादशांगमें पद आ गया मगर पदसे जो कम अक्षर रह गए वे अंग बाह्य हो गए। तो जैसे किसी ने दान किया ७०० रु० का तो उसमें १ रु० और भी शामिल समझकर ७०१ रु० का दान कर देता है, पर उस १ रु० को अलगसे कोई नहीं बोलता। उसे तो यों कहा जाता कि उसने ७०० का दान किया तो ऐसे ही जो लाखों करोड़ोंकी संख्या वाले पूरे पदोंमें आये वह तो है द्वादशाङ्ग और जो पदसे कम रह गए सो वे हो गए अंग बाह्य। अब अंगबाह्य भी इतना बिशाल है कि उसका ही जीवनमें अध्ययन नहीं हो सकता। तो द्वादशाङ्गका तो कहना ही क्या है। तो समस्त द्वादशाङ्गके ज्ञाता श्रुतकेवली कहलाते हैं। न्यायशास्त्रमें बताया है कि केवलज्ञानी और श्रुत केवली दोनों बराबरके ज्ञानी है, पर फर्क यह है कि केवलज्ञानी तो प्रत्यक्ष समस्त लोकालोक को जानता है और श्रुत ज्ञानी श्रुत ज्ञानके बलसे सारे लोकालोकको जानता है। जैसे कोई श्रमण बेलगोल हो आया तो वह साक्षात् देख आया, पहाड़ी, बाहुबलिकी प्रतिमा, नीचेके मंदिर

Version 1

लोगोंका मिलना और एक कोई यहाँ ही बैठे बैठे पुस्तकसे या किसीसे सुनकर श्रमण बेलगोल के सम्बंधकी पूरी जानकारी सही सही कर ले तो जाना तो उसने वैसा ही जैसा कि वहाँ पर जाकर आँखोंसे देखने वालेने जाना, पर इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें अन्तर है, तो ऐसे ही केवल ज्ञानी तो तीन लोक तीन कालकी बात स्पष्ट जानता है और श्रुतज्ञानी तीन लोक तीन कालका सब कुछ श्रुतज्ञानके द्वारा जानते हैं। प्रथम श्रुतकेवलीके बाद दूसरे श्रुतकेवली हुए नंदिमित्र। तीसरे श्रुतकेवलीका नाम है अपराजित चौथे श्रुतकेवली हुए गोबर्द्धन, और ५वें हुए भद्रबाहु।

(११) **पञ्चम श्रुतकेवलीके समय हुए प्राकृतिक संघर्षका प्रभाव**—अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए, इसलिए उनका नाम शास्त्रोंमें बहुत आता है। भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समयमें ही करीब समझ लो १२ वर्षका अकाल पड़ा था तो उस समय तक सब साधु निरारम्भ, निर्ग्रन्थ, निर्वस्त्र थे। उस अकालमें साधुवोंको बड़ी बड़ी मुसीबतें आयीं। चर्याको निकले तो बड़ा कठिन हो गया, अनेक भूखे लोग उनके साथ लग जाते थे और यहाँ तक सुना गया कि भरपेट भोजन किया हुआ पुरुष कोई मिले तो उसका पेट फाड़कर पेटके अन्दरका अन्न निकाल कर खा जाते थे, ऐसा भीषण काल था। उस समय साधुवोंकी बड़ी शोचनीय स्थिति हुई। तो कुछ साधुवोंने तो ऐसा विवेक किया कि जब यहाँका क्षेत्र साधुवों के रहनेके काबिल न रहा तो चलो दक्षिण भारत चलें, उत्तर भारतमें अकाल था तो दक्षिण में चले गए। कुछ साधु इस उत्तर भारतमें रह गए, पर असुविधायें सामने आयीं तो कुछ श्रावकोंने बिनती की कुछ उनको ही ऐसा जंचा तो एक जगहसे बात न बन सकी अकालके दिनोंमें सो ८—१० जगहोंसे लेकर साधुजन भोजन करें। सोचा कि इसमें किसीको दिक्कत भी न पड़ेगी, जिस जगहसे जो भोजन मिला उसे रखते गए, ७—८ जगहोंसे ले ले आये, अगर रास्तेमें दूसरोंके द्वारा भोजन छीन लिए जानेकी बात देखा तो उसे कपड़ेमें लपेटकर लाने लगे। अब उस समय दिनमें आहार चर्याके लिए जाना कठिन हो गया तो यह विचार किया कि कुछ गोधूलका समय हो याने कुछ अंधेरा उजेला सा हो, सायंकाल अथवा प्रातःकालका गोधूलका समय हो जिसमें लोगोंका आवागमन भी कम हो ऐसे समयमें चर्याको निकलना चाहिए। अब ऐसे समयमें कुत्ते लोग भी देखकर भौंकने लगते तो उनको भगानेके लिए एक डंडा भी चाहिए, सो एक डंडा भी उन्हें रखना पड़ा। ऐसी हालत बन गई उस १२ वर्षके अकालके अन्दर। धीरे धीरे अकाल समाप्त हुआ तो फिर साधुजनोंमें यह सलाह हुई कि अब तो फिर सभी साधुजनोंको पूर्वकी भाँति अपना आचरण बना लेना चाहिए और उससे जो कुछ दोष लगे हों उनकी प्रायश्चित लेकर शुद्धि हो जायगी उस समय कुछ साधु तो अपनी पूर्वकी चर्यामें आ गए और कुछ ज्योंके त्यों बने रहे। अपने

आचार विचारमें कोई परिवर्तन न किया।

(१२) **पांच श्रुतकेवली हो चुकनेके बाद ११ दशपूर्वविद् आचार्योंका निर्देश**—अब अकाल निवृत्त हो जानेपर व संघभेद हो जानेपर याने इसके दो भेद हो गए, यह अमुक संघके, यह अमुक संघके, फिर जिसको जितना ज्ञान चला आया था उस समय मौखिक ज्ञान था सो उन्होंने अपने ज्ञानसे ग्रन्थ बनाया। दिगम्बर आचार्योंने तो उनका नाम अलग रख करके ग्रन्थ बनाया ताकि किसीको यह भ्रम न हो कि यह गणधर देवका गूथा गया अंग है। क्योंकि यह तो परम्परा चल रही, दूसरे, आचार्योंने अंगोंका नाम रखकर ग्रन्थ बनाया। तो यह फर्क आया है कि अंगके नामपर ग्रन्थ बनाने पर भी वह साहित्य बिल्कुल थोड़ा है और जुदे–जुदे नाम धर कर बनाने पर भी जैसे षटषंडागम, कषाय पाहुड, समय पाहुड आदिक यह साहित्य कई गुना है। तो अंग तो बड़ा विशाल होता है। वह अंग शास्त्रोंमें नहीं आ सकता, पर उन अंगोंमें जो विषय समझा गया है उसका विषय ही लिखा जा सकता है। तो ऐसे ये ५ श्रुतकेवली हुए। यह सब आचार्योंकी परम्परा बतायी जा रही है कि अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिमें बताया गया जो आगम है, वह परम्परासे आज तक चला आ रहा है। श्रुतकेवली केवल ५ ही हुए श्रुतकेवलीके बाद बाद द्वादशाङ्गके ज्ञाता तो रहे नहीं, किन्तु १० पूर्वके पाठी कुछ हुए। १२ वें अंगमें पूर्व होता है। १२ वां अग इतना बड़ा है कि ११ अंगका मिलकर भी परिमाण उसके आगे कुछ नहीं है, इतना विशाल है १२ वां अंग। तो पूर्वका बहुत बड़ा परिमाण हैं। ऐसे १० पूर्वके पाठी ११ मुनि हुए क्रमशः जिनके नाम (१) विशाख (२) प्रौष्ठिल (३) क्षत्रिय (४) जयसेन (५) नागसेन (६) सिद्धार्थ (७) धृतिषेण (८) विजय (९) बुद्धिल (१०) गंगदेव (११) धर्मसेन। पूर्वोंका बहुत बड़ा भारी परिमाण है, या यों कहो कि ११ अंगके वे ज्ञाता तो थे ही, १० पूर्व और जानते थे।

(१३) **दशपूर्वविद् हो चुकनेके बाद एकादशाङ्गके पण्डित आचार्योंका निर्देश**—११ दशपूर्वविद्के बाद पूर्वके ज्ञाता नहीं रहे। ११ अंगके ज्ञाता रहे। सो ऐसे ११ अंगके जाननहार आचार्य ५ हुए—जिनके नाम हैं—नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस। जैसे-जैसे समय गुजरता गया वैसे ही वैसे ज्ञानमें कमी आती रही। ११ अंगके ज्ञाता ५ आचार्य हुए। उनके बाद फिर सिर्फ एक अंगके ज्ञाता रह गए। एक अंगके धारी चार आचार्य हुए, जिनके नाम हैं—सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य। इन चार तक बराबर द्वादशाङ्गमें जैसी शिक्षा रचना थी उसमें से एक अंगकी रचनाके जाननहार थे। इसके बाद एक एक अङ्गके भी ज्ञाता न रहे, किन्तु उस एकके किसी एक देश अर्थके जाननहार रहे। अब देखिये—द्वादशाङ्गके विषयमें अत्यंत अल्प ज्ञाता थे वे आचार्य जो अन्तमें रहे और आज जितना साहित्य है

Version 1

यह आगम भी बहुत विशाल मालूम होता है, अब समझिये उस एकदेशका क्या परिमाण रहा ?

(१४) **पञ्चमकालमें लिपिबद्ध ग्रन्थ रचनाका प्रारम्भ**—जिस समय एक देश अंगके ज्ञाता धरसेनाचार्य कुछ चिन्ता कर रहे थे मनमें कि इस पंचम कालमें आगे तो इतना भी ज्ञान नहीं रहनेका, तो फिर यह परम्परा कैसे रहेगी। उनकी समझमें आया कि मैं जितना जानता हूं उतना ही किसीको सिखाऊँ तो यह परम्परा चलती रहेगी। तब उन्होंने दक्षिण भारतके एक संघमें जहाँ कि दो मुनि उनको विद्वान जंचे, खबर भेजी कि हम आपके दो शिष्यों को अपना ज्ञान पढ़ा सकते हैं। यह खबर पाकर मुनिराजने अपने दो शिष्योंको धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेनाचार्यने सर्वप्रथम उन दोनों शिष्योंकी बुद्धिमानीकी परीक्षा करना चाहा, सो क्या किया कि दोनों ही शिष्योंको एक ही मंत्र आराधना करनेके लिए दिया, परंतु एकको उस मंत्रमें एक अक्षर कम करके दिया और एकको एक अक्षर बढ़ाकर वह मंत्र दिया, और कहा कि तुम दोनों इस मंत्रकी सिद्धि करो। सो दोनों शिष्योंने अलग अलग रहकर उस मंत्रकी आराधना किया। थोड़े ही दिनोंमें उनके समक्ष देवी प्रकट हुई, एकके सामने तो बड़े-बड़े दाँत वाली देवी आयी और एकके समक्ष कानी देवी आयी। तो उन दोनों शिष्योंने सोचा कि देवीका रूप ऐसा तो होता नहीं, इस मंत्रमें क्या कुछ कमी है ? तो अपनी ही बुद्धिसे उन दोनोंने अपना-अपना मंत्र सही कर लिया। कुछ दिन फिर साधना किया तो सही रूपमें देवियाँ प्रकट हुईं। बस यह ही जानना था धरसेनाचार्यको कि इस मंत्रको सुधार सकने लायक इनमें बुद्धि है या नहीं, उसके बाद उन्होंने पढ़ाया। उन दोनों शिष्योंका नाम था पुष्पदंत और भूतबलि। जिस समय धरसेनाचार्यका अंतिम समय आया तो उन्होंने इन दोनों शिष्योंसे कह दिया कि अब तुम लोग जाइये, ताकि मुझे समाधि मरण करते हुएमें तुम्हारे प्रति राग मेरे चित्तमें न आये। वे जानते थे कि जिन शिष्योंको मैंने पढ़ाया उनके प्रति राग होनेकी सम्भावना है। तो धरसेनाचार्यका तो स्वर्गवास हुआ। पुष्पदंत, भूतबलिने षट्खंडागमकी रचना की। यह बहुत बड़ा विशाल करणानुयोगका ग्रन्थ है, जिसका ही कुछ थोड़ा सा विषय यहाँ जीवस्थानचर्चामें चल रहा है। तो जब वह ग्रन्थ पूरा बन चुका तो वह था कोई जेठ सुदी पंचमीके करीबका दिन, या संभव है कि इसी दिन पूर्ण हुआ हो, तो उस समय बड़े समारोह के साथ उस लिखित ग्रंथकी लोगोंने पूजा की और तबसे यह श्रुतपंचमीका पर्व प्रारंभ हुआ।

(१५) **अनेक आचार्योंकी परम्परासे आगमका अब तक चला आ रहा प्रवाहका परिचय**—फिर उसी समय कषाय पाहुड ग्रन्थकी रचना हुई फिर उस परम्परासे अनेक ग्रन्थ दार्शनिक शास्त्र, करणानुयोग ये सब रचनेमें आने लगे। और इतना विशाल आगम आज जैनागम पाया जा रहा है तो इस आगमकी यह परम्परा है, परम्परासे चला आया है आगम

इसलिए इसमें प्रामाणिकता है। दूसरे—वस्तुके स्वरूपके अनुसार वर्णन है, जहाँ कोई विरोध नहीं आता। जो परोक्षभूत पदार्थोंका वर्णन है वह इसके लिए एक श्रद्धासे प्रमाणीक है, क्योंकि जिस आगममें अनुभवमें उतरने वाले तत्त्वोंका स्वरूप सही-सही दिखाया है वहाँ परोक्षभूत पदार्थोंका स्वरूप मिथ्या क्यों माना जायगा ? आज भी ग्रन्थके लिखने वालेपर पढ़ने वालेको अगर श्रद्धा है तो वह उस ग्रन्थसे लाभ उठा लेता है और यदि कोई उस ग्रन्थको कुछ संदेहके साथ पढ़ रहा है, ग्रन्थकर्तापर विश्वास नहीं है तो उससे वह आत्महितके लिए फोर्स (बल) न पा सकेगा। तो जो आगम आज है उसके लेखक आचार्य वीतरागी थे, आत्मकल्याणके अभिलाषी थे, अतः जो भी आगममें उन्होंने लिखा है वह सब सही है, ऐसी श्रद्धा ज्ञानीको रहती है।

(१६) **आगममें अपुनरुक्त अक्षरोंकी गणना**—इस दूसरी गाथामें अभी यह बताया गया था कि भगवानकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे, आचार्योंकी परम्परासे जो आगम अब तक चला आया है, उसका पूर्णरूप द्वादशांग था। आज तो द्वादशांग है नहीं, पर समस्त आगम द्वादशांग और अंगबाह्यमें है। उसी सम्बंधमें बतलाते हैं कि वे १२ अंग कौनसे हैं, और उन अंगोंमें कितने पद हैं, कितने अक्षर हैं। पहले तो यह जानना कि अपुनरुक्ताक्षर याने जो अक्षर एक बार कह दिया जाय उसे फिर दुबारा न कहा जाय, ऐसे अपुनरुक्ताक्षर कितने होते हैं ? तो अब अंदाज कीजिए कि जैसे इकहरे-इकहरे तो ६४ अक्षर हैं, अब उनको एकमें दूसरा मिलाया, फिर उसे हटाकर और दूसरा मिलाया तो ऐसे द्विसंयोगी अक्षर कितने हो सकते हैं बहुत अधिक संख्या होगी। केवल दो ही अक्षर मिलें तो ६४ में ६४ का गुणा करें तो जितना गुणनफल आया उससे एक अक्षर माना जाय और वह भी बदल-बदलकर उनका प्रमाण, ऐसे ही ४-५ आदि जोड़-जोड़कर ६४ अक्षर तक मिलावें और फिर उनको बदल-बदलकर मिलावें तो वे सारे अक्षर कितने होंगे कि जो दुबारा न कहे जायें। तो आज जितनी संख्या अधिकसे अधिक मानी जाती उससे कितनी ही अधिक हो जाती, जिसको बताया है कि २० अंक प्रमाण अपुनरुक्त अक्षर हैं। जैसे ईकाईमें एक अंक, दहाईमें दो अंक, सैंकड़ामें तीन अंक, इस तरह क्रमसे लगाते जाइये, हजारमें ४ अंक, दस हजारमें ५ अंक, लाखमें ६ अंक, १० लाखमें ७ अंक, करोड़में ८ अंक, १० करोड़में ९ अंक, अरबमें १० अंक, १० अरबमें ११ अंक आदि····· बस इतनी ही आजकल संख्या चल रही है, आजकल खरब, नील, पदम आदि संख्यावोंका रिवाज नहीं है। इसी क्रमसे चलते जाइये तो १० शंखमें १९ अंक हुए, और अक्षर हैं २० अंक प्रमाण, इसके मायने हैं कि हजारों शंख हो गए, इतने अक्षर अपुनरुक्त हैं।

(१७) **आगममें पदोंकी गणना**—आगमके अपुनरुक्त उन अक्षरोंका पद बनाया जाय तो पद कम होते हैं। यहाँ विभक्ति वाले पदसे मतलब नहीं। पदकी एक सीमा है। एक

मध्यम पद १६ अरब, ३४ करोड़, ८३ लाख, ०७ हजार, ८८८ अक्षरोंमें माना गया है। इतनेका गुणा उन २० अंकोंमें दिया जाय तो सर्व पदोंकी संख्या कितनी हुई याने अपुनरुक्त अक्षर वाले द्वादशाङ्ग समस्त आगममें कितने पद हुए, जिनका प्रमाण है—१ अरब, १२ करोड़, ८३ लाख, ५८ हजार, ००५, इतने सारे आगमके पद हैं और एक पद इतना बड़ा होता कि बड़ासे बड़ा एक ग्रन्थ एक पदमें न कहलायगा। अब यहाँ यह जानना कि यह पद जो बतलाया है अभी इससे भी कुछ बच गया है आगम, जो एक पदमें नहीं आता, किन्तु अक्षर ही रह गए उनको बोलते हैं अंगबाह्य। इस प्रकार अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये समस्त आगम कहलाते हैं। जो अक्षर बच गए थे, जो एक पद नहीं कहलाये, वे अक्षर हैं ८ करोड़, ०१ लाख, ०८ हजार, १७५। इतना बड़ा आगम है जिस आगमको कोई पुस्तकमें नहीं बाँध सकता, मगर अकालके समय जो जैनशासनमें संघभेद बन गया था तो दिगम्बर जैनसंघ में तो सही बात रखी याने जो शास्त्र बने, चाहे उनमें उस द्वादशांगका भी कोई शब्द हो तिसपर भी ग्रन्थोंके नाम दिए गए हैं, अंगके नाम नहीं दिये, किन्तु दूसरे संघने अङ्गोंके नाम दिये हैं अपनी छोटी-छोटी पुस्तकोंके?

(१८) **आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग व स्थानाङ्गके विषय व पदगणनाका निर्देश**—अब उस द्वादशाङ्गके नाम और प्रत्येक अङ्गमें कितने पद हैं उसका वर्णन किया जा रहा है। १२ अङ्गके नाम हैं—(१) आचारांग, (२) सूत्रकृत अङ्ग, (३) स्थान अंग, (४) समवाय अंग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, (६) ज्ञातृधर्मकथा अंग, (७) उपासकाध्ययन अंग, (८) अंतकृत दशांग अंग, (९) अनुत्तरोपादक दश अंग, (१०) प्रश्न व्याकरण अंग, (११) विपाकसूत्र अंग, (१२) दृष्टिवाद अंग। इन १२ अंगोंमें जो दृष्टिवाद अंग है अन्तिम, उसका बहुत बड़ा रूप है, जिसके आगे ये ११ अङ्ग मिलकर भी बहुत छोटा रूप रहता है। इसका वर्णन करेंगे, पर पहलेसे सुनो—आचारांग मायने क्या? जिस अङ्गमें मुनियोंके आचरणका वर्णन हुआ, कैसे ठहरना, बैठना, चर्या करना, कैसा यत्न रखना, किस तरह ध्यानमें आना, उनका क्या तप हैं, यह सब वर्णन आचारांगमें आता है। इसके १८ हजार पद हैं। एक पदके तो करोड़ों अक्षर होते हैं, ऐसे १८ हजार पद हैं। दूसरा अङ्ग है सूत्रकृत अंग। इस सूत्रकृत अङ्गमें क्रियावोंका विशेष वर्णन है। कैसे ज्ञानी जनोंका विनय करना, कैसे धर्मात्मा जनोंका आदर करना, कैसी स्वमतकी धर्मक्रिया है कैसी परमतकी धर्मक्रिया है ऐसी धार्मिक क्रियाका विशेष वर्णन है। इस अंगके ३६ हजार पद हैं। तीसरा अंग है स्थान अंग। इस स्थान अंगमें पदार्थों का स्थानके अनुसार वर्णन है। जैसे २-२ क्या चीजें होती हैं उनका संग्रह। समस्थानका वर्णन है। कुछ वर्णन ग्रन्थोंके अनुसार समस्थान सूत्रमें किया है। एक क्या है? केवल एक

सत्त्व । २ क्या है ? ऐसे सैंकड़ों पदार्थ । ३ + ३ क्या ? जिसके भेद ३-३ हैं, ४-४ हैं ऐसे १००-१०० तकके भेदके अलग अध्याय हैं । और हजार लाख करोड़, संख्यात, असंख्यात, अनन्त कितने क्या-क्या होते हैं, यह सब वर्णन है । पर स्थान अंगमें तो इसका बहुत ही अधिक वर्णन है । एक स्थानके आश्रयसे भी भेदोंका वर्णन इस अंगमें है । जैसे—जीव सामान्यतः एक है, विशेषतः दो है, ३ प्रकार हैं, इस तरह एक-एक पदार्थके भी अनेक स्थान बताये गए हैं । इस तरह भी स्थानका वर्णन है । इस अंगमें ४२ हजार पद हैं ।

(१९) समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा व उपासकाध्ययन अङ्गके विषय व पदगणनाका संकेत—चौथा अंग है—समवाय । इसमें समानताका वर्णन है । जीवादिक ६ द्रव्योंका द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिक रूपसे वर्णन है और इसमें जब सबका वर्णन चल रहा तो किसका किसके समान है, यह भी बात आती है । जैसे कहते हैं ना—जम्बूद्वीप, सौधर्मस्वर्ग का पहला ऋतु विमान, सर्वार्थसिद्धि ये सब एक बराबर क्षेत्रके हैं । इसी तरहसे अनेक बातों का वर्णन है, इसके पद हैं १ लाख ६४ हजार । ५वां अंग है—व्याख्याप्रज्ञप्ति । इस व्याख्याप्रज्ञप्तिमें ६० हजार प्रश्नोंका और उत्तरोंका वर्णन है । जैसे कि तीर्थंकरोंके समयमें गणधरदेव प्रश्न करें और उत्तर करें, ऐसा इस उत्तरका वर्णन इस अंगमें है । इसके पद हैं २ लाख २८ हजार, किन्तु उन प्रश्नोत्तरोंका बहुत अधिक विशाल रूप हो जाता है । छठे अंगका नाम है—ज्ञातृधर्मकथा । इसमें तीर्थकी धर्मकथायें हैं । जीवादिक पदार्थोंके स्वभावका वर्णन गणधरके प्रश्नोंका उत्तर, इसके पद हैं ५ लाख ५६ हजार । व्याख्याप्रज्ञप्तिके प्रश्नोंका इसके उत्तरसे भी सम्बंध है । ७वां अंग है—उपासकाध्ययन । उपासक कहते हैं श्रावकको । श्रावकके धर्मका जिसमें वर्णन है उसे उपासकाध्ययन कहते हैं । इसमें ११ प्रतिमा और श्रावकोंके आचरणका वर्णन है । किस प्रतिमामें कैसी प्रवृत्ति है, किस रूप कषाय है, कैसा श्रावकको आचरण करना चाहिए । श्रावकोंके धर्मकी सब बातें इस अंगमें हैं । इसके पद हैं ११ लाख ७० हजार ।

(२०) अन्तःकृद्दशाङ्ग व अनुत्तरोपपादक दशाङ्गके विषय व पदगणनाका संकेत—८वें अंगका नाम है—अंतःकृत दशांग । एक एक तीर्थंकरके समयमें १०-१० ऐसे केवली हुए हैं जो अन्तःकृत कहलाते हैं । जिनपर घोर उपसर्ग हुआ और उपसर्गोंके प्रसंगमें जिनको ज्ञान हो गया, केवलज्ञान हो गया, ऐसे १०-१० अन्तःकृत केवलियोंका इस अंगमें वर्णन है । इस अंगके पद हैं २३ लाख २८ हजार । ९वें अंगका नाम है अनुत्तरोपपादक दशांग । १६ स्वर्गोंसे ऊपर नवग्रैवेयक हैं, ९ ग्रैवेयकसे ऊपर ९ अनुदिश हैं, उसके ऊपर ५ अनुत्तर विमान हैं । इन अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होने वालोंको अनुत्तरोपपादक कहते हैं । यह नियम है कि

Version 1

अनुत्तर विमानोंमें जो देव उत्पन्न हुए उनमें सर्वार्थसिद्धिके देव तो एक भवावतारी हैं। वहाँ से चय कर मनुष्य होकर उसी भवसे मोक्ष जायेंगे। शेष चार अनुत्तर विमानोंके अधिकसे अधिक दो भवावतारी हैं। दो भव मनुष्यके पाकर वे मोक्ष जायेंगे। उन १०-१० मुनियोंका वर्णन है जो तीर्थंकरके समयमें ऐसे १०-१० महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानमें उत्पन्न होते हैं। पहले जो अन्तःकृत दश नामा अंग था उसमें तो उपसर्ग सहकर केवलज्ञानी हुए और इस अंगमें उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानोंमें हुए उनका वर्णन है। इसमें पद ९२ लाख चवालीस हजार है।

(२१) **प्रश्नव्याकरणाङ्गके विषय व पदगणनाका निर्देश**—१०वें अंगका नाम है प्रश्नव्याकरणनाम अंग। इसमें शुभ अशुभ स्वप्नादिकका या किसी घटनाका कोई प्रश्न है और उत्तर है। भूतकालमें जो शुभ अशुभ घटना हुई उसका भी प्रश्नोत्तर है। अनागत कालमें, भविष्यमें कोई शुभ अशुभ बातें हुईं, उनका प्रश्नोत्तर है तथा वह कैसे दिया जाय उत्तर उन उपायोंका वर्णन है। यों तो प्रश्न बहुत हो सकते। भिन्न-भिन्न घटना है, अगर ऐसा प्रश्न हो तो उसका क्या फल है, किस तरह उत्तर हों, उन उपायोंका संकेतोंका वर्णन है। इसके अतिरिक्त चार प्रकारकी कथाओंका भी वर्णन है। कथायें चार तरहकी होती हैं—आक्षेपणी—जो खण्डन मंडनरूप हैं, दूसरेपर आक्षेप करने वाली हैं वे आक्षेपणी कथायें हैं। विक्षेपणी—जो कुछ विक्षेप उत्पन्न करें। उपयोग जिससे घूमे अथवा जिसमें कोई क्षोभ वाली कथायें हैं। संवेदनी और निर्वेदनी ये धर्मवर्द्धक और निर्वेदनी कथामें वैराग्य भावना बनती है। तो इन चार तरहकी कथाओंका वर्णन है। कथाओंके मायने कहानी ही नहीं, किन्तु ऐसा वाक्य प्रबन्ध, जिसमें ये चार प्रकारकी बातें आयें। समाधिमरण कोई मुनि कर रहा हो उस समय उसे आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा न सुनायी जायगी, उसे आवश्यक है धर्ममें रुचि बढ़े और संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य बढ़े, तो उसे संवेदनी और निर्वेदनी ये दो कथायें ही सुनाई जाती हैं। इस अंगमें ९३ लाख १६ हजार पद हैं।

(२२) **विपाकसूत्राङ्गके विषय व पदगणनाका विवरण**—११ वें अंगका नाम है विपाकसूत्रनामा अंग। इसमें कर्मोंके उदयका वर्णन है। कर्मोंमें तीव्र मंद अनुभाग फल देनेकी शक्ति कैसी है और किस द्रव्य क्षेत्र काल भावसे लेकर कैसा फल मिलता है इन सबका वर्णन है। कर्म उदयमें आते हैं, पर उदय होनेपर भी जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका योग होता है उसके अनुसार उसकी तीव्रता मंदता बन जाती है। जैसे किसी समय तीव्र क्रोध आ रहा हो और वह हो मंदिरमें तो बताओ उसके क्रोधमें कुछ थोड़ा फर्क पड़ेगा कि नहीं? अवश्य पड़ेगा। इसीलिए तो बताया है कि अपना अधिक समय धर्मसाधनामें बिताना

चाहिए। इसी तरह काल भावकी भी बात है। कर्मविपाकका तो कोई नियत समय नहीं है। किसी कारण कुछ भी हो जाता है। सुबहके समय ब्राह्म मुहूर्तमें प्रायः लड़ाइयाँ कम देखी जाती हैं और क्रोध प्रकृतिका तीव्र विपाक होता भी होगा, मगर वह काल कुछ ऐसा धर्म अध्ययन स्वाध्याय आदिकका है कि जिस समयमें उसके क्रोधादिक तीव्र नहीं हो पाते। हो भी जायें यह नियम नहीं, किन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है। तो किस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे किस प्रकारका कर्मफल देता है यह सब वर्णन इस ११वें अंगमें है। इसके पद हैं १ करोड़ ८४ लाख। ये तो ११ अंग हुए। १२वां अंग है दृष्टिवाद नामा अंग। अब यहाँ यह देखना कि इन ११ अंगोंके पदोंकी संख्या याने सबका जोड़ ४ करोड़, १५ लाख, २ हजार पद हैं। सामान्य रूपसे समझ लीजिए कि ४ करोड़ पद हैं।

(२३) दृष्टिवाद अङ्गके विषय व पदगणनाका निर्देश—अब १२वाँ जो अंग आयगा उसके पद इसमें कई गुणित हो जाते हैं। तो १२वें अंगका बहुत बड़ा विस्तार है। इसका नाम है दृष्टिवाद अंग। इसमें अनेक प्रकारके वर्णन हैं जिनमें मुख्यता ३६३ कुयोनियोंकी है। खोटे मत ३६३ प्रकारके होते हैं। यद्यपि ऐसे मत आज प्रकट नहीं दिख रहे, मगर सिद्धान्त और विचारके हिसाबसे एकका दूसरेसे फर्क दिखता। जैसे ३६३ कुवादी हो जाते हैं। आज तो खालिस धर्म याने जिसमें कई सम्प्रदायोंका जुड़ना किया गया हो, बहुत कम मिलते हैं, जैसे—जैन, बौद्ध, नैयायिक आदि। उनमें कौन अच्छा कौन बुरा, यह बात नहीं बतला रहे किन्तु जैनमें जैनदर्शनकी ही बात मिलेगी, बौद्धमें बौद्धदर्शनकी ही ही बात मिलेगी, इस तरह से अन्य दर्शन बहुत कम हैं। जैसे एक हिन्दू सम्प्रदाय ही ले लो, उसमें एक दर्शन नहीं है। कुछ सांख्य दर्शन, कुछ नैयायिक दर्शन, कुछ मीमांसक दर्शन, कुछ वैशेषिक दर्शन है, कई दर्शन मिलेंगे और कभी-कभी जैनदर्शन भी आ गया है तो यह तो खालिस कुवादकी बात कह रहे। जिसमें एककी दूसरेमें मिलावट नहीं, ऐसे कुवाद ३६३ हैं। इनका वर्णन इस दृष्टिवाद अंगमें है। अब इस सम्बन्धको लेकर कुछ खोटा वर्णन होगा। कुछ भला भी वर्णन होगा, पर उनका सम्बन्ध ३६३ कुवादसे है। दृष्टिवाद अंगका विशेष खुलासा इससे आगे किया जायगा।

(२४) दृष्टिवाद अंगके पांच विभाग—अरहंत देवके द्वारा भाषित अर्थात् दिव्यध्वनिसे प्रकट हुए गणधर देवके द्वारा गूंथा गया जो द्वादशाङ्ग आगम है उसमें अब तक ११ अंग का वर्णन हुआ। १२ वें दृष्टिवाद अंगका सामान्यतया वर्णन तो किया था कि इसमें १०८ करोड़ ६८ लाख ५६ हजार पद हैं। इतने पद ११ अंगके मिलकर भी नहीं हैं। अब १२ वे अंगका विस्तार कितना है सो सुनो १२ वें अंगके पहले तो ५ विभाग बनाओ, परिकर्म, सूत्र,

प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। ११ अंग १४ पूर्व जो कहे जाते हैं उनमें समस्त आगम नहीं आता, पर १४ पूर्वका इतना बड़ा विस्तार है कि जितना विस्तार बाकी समस्त आगम का नहीं है, इस कारण १४ पूर्व कहनेसे ११ अंग भी समझ लिये जाते हैं। अगर यह कहा जाय कि अमुक मुनि १० पूर्वके धारी हैं तो उसके मायने यह है कि ११ अग तो जानते ही हैं, १० पूर्व और जान रहे है क्योंकि जो बड़े परिमाणको चीज है उसको बोल देनेसे छोटे प्रमाणकी चीज समझमें आ जाती है। तो अब दृष्टिवाद अगके ये ५ विभाग हैं,

(२५) परिकर्मगत चंद्रप्रज्ञप्ति व सूर्यप्रज्ञप्तिके विषय और पदगणनाका निर्देश—परिकर्ममें क्या वर्णन आता है? गणित शास्त्रका। गणितके करणसूत्र, जिसे कहते हैं गुर। पहले हिसाब किताब लगानेके लिए गुर हुआ करते थे, तो करण याने गणितका समस्त हिसाब बताने के लिए सूत्र है ना? उस परिकर्ममें ५ भेद हैं—(१) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (२) सूर्यप्रज्ञप्ति, (३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, (४) द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्तिमें चन्द्रमाके हिसाब से गणित बताया गया है। पहले तो चन्द्रमाका परिवार बताया चंद्र ज्योतिषी देवोंका इन्द्र है जो दिखता है लोगोंको चंदा, वह चंद्र देव नहीं है किन्तु चंद्रदेवके रहनेका विमान है। तो उस चंद्रदेवका परिवार कितना है? वह कहाँ तक आता जाता है। उसकी बढ़ोतरी कितनी है, कभी हानि हो तो कितनी है। उसके परिवारमें तारे सूर्य यतीन्द्र हैं, उसका परिवार अलग गिनाया है, पर तारे नक्षत्र वगैरह ये चंद्रके परिवार हैं। ग्रह वगैरह इसमें सब आ जाते हैं। तो इन ग्रहोंकी चालसे, चंद्रकी चालसे गणित चलता है। जैसे हिन्दुस्तानमें चंद्र, उसके हिसाबसे महीना चलता है। तभी तो पूर्णिमा वह कहलाती है जिस दिन पूरा चाँद हो और चंद्रकी अपेक्षा महीना माननेसे तीन साल बाद करीब १३ महीनेका साल आता है, याने उस वर्षमें १३ चाँद निकलते हैं। पूरे अन्य सम्वतावसरोंमें पूरे चाँद १२ निकलते हैं, तो चंद्रकी गतिके हिसाबसे महीना, ग्रहण आदि सब बातें निकाल ली जाती हैं। और और भी गणित उसके हिसाबसे बने, यह सब चंद्रप्रज्ञप्तिमें है। इसके पद हैं ३६ लाख, ५ हजार। दूसरा परिकर्म है सूर्यप्रज्ञप्ति इसमें सूर्यकी ऋद्धिका, परिवारका, गमनागमनका वर्णन है। कई जगह सूर्यके हिसाबसे माह माना जाता है और अब आजकल यह प्रायः गौण हो गया है। इसे कहते हैं सौरमास। और १२ राशिके जो १२ सूर्य बताये गए वे सौरमासके हिसाबसे हैं। जैसे करीब असौजमें कन्याराशिका सूर्य होता और उसमें बहुत तेज गर्मी पड़ती कुछ भाद्रपदसे भी लिया जाता है तो ऐसे अलग-अलग राशिमें अलग-अलग सूर्य बताये गए हैं, तो सूर्यकी गतिसे भी गणित निकलता है। इसके पद हैं ५ लाख ३ हजार।

(२६) परिकर्मगत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति व द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व व्याख्याप्रज्ञप्तिके विषय

व पदगणनाकी संख्या—तीसरा परिकर्म है जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। इसमें जम्बूद्वीपसे संबंधित सब रचनाओंका वर्णन है। जम्बूद्वीपमें एक मेरु है, ६ कुलाचल पर्वत हैं, जम्बूद्वीप गोल है। उस गोलके बीचमें ६ कुलाचल आनेसे ७ क्षेत्र बन जाते हैं। उनका विस्तार, उनकी रचना कौन कहाँ जीव रहते हैं आदिक वर्णन इस जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें है। इसके पद हैं ३ लाख २५ हजार। चौथा परिकर्म है द्वीपसागर प्रज्ञप्ति। इसमें द्वीप और सागरोंका वर्णन है। यद्यपि जम्बूद्वीप भी इसमें आ गया, पर जम्बूद्वीपका विशेष वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिमें है। तो यहाँ थोड़ा वर्णन लेकर बाकी द्वीप समुद्रोंका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जैसे जम्बूद्वीपको भेड़े हुए लवण समुद्र है। जम्बूद्वीप तो एक लाख योजनका है पर लवण समुद्र एक ओर दो लाख योजनका है। पर इस दृष्टिसे देखा जाय तो कहा तो यों जाता है कि उस जम्बूद्वीपसे दूना क्षेत्र है लवण समुद्रका पर दूना नहीं, कई गुणा क्षेत्र बन जाता है। जम्बूद्वीपको घेर कर लवण समुद्र है मगर वह दूना एक तरफ है। दूसरी तरफका उतना दूना है, चारों तरफ दूना-दूना है। उसको घेरे हुए दूसरा द्वीप है। वह लवण समुद्रसे भी दूना है और वह दूना एक-एक तरफ है ऐसे दुगने दुगने द्वीप और समुद्र हैं। और उनकी गणना असंख्यात है। तो द्वीप और सागरोंका वर्णन इस चौथे परिकर्ममें है। इसके अलावा यह भी बताया गया कि वहाँ कितने ज्योतिषी देव हैं, व्यन्तर देव हैं, भवनवासी देव कहाँ कहाँ रहते हैं, व्यंतर आदि कहाँ-कहाँ रहते हैं और उनके भवनोंमें जिन मंदिर हैं तथा अलग भी जिन मंदिर हैं। तो समस्त द्वीप सागरोंमें किन-किन द्वीपोंमें मंदिर हैं। यह भी उसमें वर्णन आया है। अजीव पदार्थके प्रमाणका वर्णन किया गया इसमें पद हैं ५२ लाख ३६ हजार। ५वाँ परिकर्म है व्याख्याप्रज्ञप्ति। इस परिकर्ममें जीव है। जीव कितने हैं, अजीव कितने हैं, उनका कैसा स्वरूप है, इन सबकी व्याख्या की गई है इसमें पद हैं ८४ लाख ३६ हजार। इस प्रकार इन पाँचों ही परिकर्मोंसे समस्त पद जुड़ जायें तो एक करोड़ ८१ लाख, ५ हजार पद होते हैं। यह दृष्टिवाद अङ्गके पहले विभागका वर्णन है।

(२७) **दृष्टिवाद अंगके द्वितीय विभागसूत्रके व तृतीय विभाग प्रथमानुयोगके विषय एवं पदगणनाका निर्देश**—अब दृष्टिवादका दूसरा विभाग है सूत्र। सूत्र नामक अधिकारमें ६३ कुवादियोंका वर्णन है जिसके मिथ्यात्वका उदय है, मिथ्यात्वमिश्रित जिसका प्रलाप है ऐसा ६३ कुवादीका पूर्व पक्ष लेकर उनको जीवादिक पदार्थोंपर लगाना, उनका निराकरण करना यह सब इस सूत्र नामक परिकर्ममें है। यों समझिये कि बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र ये सब इस सूत्रसे निकले हुए हैं। इसके पद ८८ लाख हैं। अब १२ वें अंगका तीजा विभाग प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोगमें ६३ सलाका पुरुषोंका चरित्र है। महापुरुषोंकी उसमें

Version 1

कथायें बतायी गई है, उनसे जीवको उपदेश मिलता है। कैसे कैसे महापुरुष हुए हैं, उनकी पहले क्या प्रवृत्ति रही थी। कैसे वैराग्य हुआ, कैसे धर्मध्यानमें लगे, कैसे उनपर उपसर्ग आया, निर्वाण हुआ या स्वर्ग आदिकमें गए, या जिस गतिमें गए, यह सब वर्णन प्रथमानुयोगमें मिलता है। प्रथमानुयोग तो बड़ा प्रसिद्ध शब्द है। जितने आजके पुराण हैं वे सब प्रथमानुयोगमें कहलाते हैं। इनके पद हैं ५ हजार। ५ हजारको भी बहुत अधिक संख्या है। इसमें कितने ही ग्रन्थ आ जायेंगे। उसमें भी ५ हजार पद पूरे न होंगे।

(२८) दृष्टिवादके चौथे विभाग पूर्व नामक आगमका संक्षिप्त विवरण—अब १२ वें अंगका चौथा अधिकार है पूर्वगत। इस पूर्वगतका बहुत बड़ा प्रमाण है। ये पूर्व होते हैं १४। उन १४ पूर्वोंके नाम हैं— (१) उत्पाद नामपूर्व (२) अग्रायणी नामपूर्व (३) वीर्यानुवादनामपूर्व (४) अस्तिनास्ति प्रवाद नामापूर्व (५) ज्ञानप्रवाद नामापूर्व (६) सत्यप्रवाद नामा पूर्व, (७) आत्मप्रवाद नामापूर्व (८) कर्मप्रवाद नामापूर्व (९) प्रत्याख्यान नामापूर्व (१०) विद्यानुवाद नामापूर्व (११) कल्याणवाद नामापूर्व (१२) प्राणवाद नामापूर्व, (१३) क्रियाविशाल नामापूर्व, (१४) त्रिलोक बिन्दुसार नामापूर्व। इनमें जो १० वें पूर्व तकका ज्ञाता हो गया वह ऋद्धि वाला माना जाता है, और १० वाँ पूर्व सम्यग्दृष्टिके ही सिद्ध होता है। ९ पूर्व तक मिथ्यादृष्टि मुनिके भी ज्ञान हो जाता है। ११ अंग और कुछ ये परिकर्म और ९ पूर्व, यहाँ तकका ज्ञान अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मुनिराजके हो जाता है। अब वे भी मुनिराज बहुत ऊँचे बढ़े चढ़े ज्ञानी विद्वान तपश्चरणमें सावधान, किसीपर रागद्वेष न करने वाले ऊँचे ही पुरुष होते हैं, लेकिन मिथ्यात्वका ऐसा उदय है कि कोई सूक्ष्म अंश मिथ्यात्वका रह गया। १० वाँ पूर्व उनको ही सिद्ध होता है जो सम्यग्दृष्टि हैं। इसीलिए १० वाँ पूर्व बहुत प्रसिद्ध है।

(२९) उत्पादपूर्व व अग्रायणी पूर्वके विषय व पदगणनाका निर्देश—इन १४ पूर्वोंमें प्रथम पूर्व है उत्पाद पूर्व। इस पूर्वमें वस्तुके उत्पाद व्यय ध्रौव्यादिक अनेक भेदोंकी अपेक्षा भेदका वर्णन है। उत्पाद नवीन अवस्थाका आविर्भाव, व्यय याने पुराने याने चल रही अवस्थाका विलीन हो जाना, ध्रौव्य मायने वस्तुका सत्त्व सदा बना रहना ये तीनों वस्तुमें अविना भावी हैं। यदि उत्पाद नहीं है तो व्यय और ध्रौव्य भी नहीं हो सकते, यदि व्यय नहीं है तो उत्पाद और ध्रौव्य भी नहीं हो सकते, यदि ध्रौव्य नहीं है तो उत्पाद और व्यय भी नहीं हो सकते, यदि इस उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे संबंधित सभी प्रकारका वर्णन है और वस्तुमें रहने वाले अनेक धर्मोंकी अपेक्षा उन सबका वर्णन है। इसमें पद हैं एक करोड़। ११ अंगोंका जितना भी पद समूह है उसका जोड़ होता है ४ करोड़ और कुछ

लाख। अब यहां देखें कि इस उत्पाद पूर्व अंगमें ही एक करोड़ पद हैं। दूसरा पूर्व है अग्रायणी नामपूर्व। इम पूर्वमें ७०० सुनय और दुर्नयका और ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थोंका वर्णन है। नयकी संख्या मूलमें दो है—(१) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इसका विस्तार किया जाय तो बढ़ते चले जाइये। द्रव्यार्थिकनयके ३ भेद हैं—नैगम संग्रह व्यवहार। पर्यायार्थिकनयके चार भेद हैं—(१) ऋजुसूत्रनय, (२) शब्दनय, (३) समभिरूढ़नय और (४) एवंभूत नय। अब उनका और भी वर्णन बढ़ाते जाइये तो व्यवहारमें अब जितनेसे काम पड़ता है वे करीब १५० नय हैं, मगर उनके और भी भेद किए जायें तो ७०० नय तकका वर्णन आगममें है। पर इसके अलावा और भी जितनी विवक्षायें हैं वे सब इन ७०० में ही गर्भित हैं, पर उनके और भी भेद बना लिए जायें तो अनगिनते नय हो सकते हैं। जितने विचार हैं, जितनी विवक्षायें हैं, अपेक्षायें हैं उतने नय हो सकते हैं। तो इस अग्रायणी नाम पूर्वमें नयोंका वर्णन है। द्रव्य तत्व और पदार्थोंका वर्णन है। इसमें ९६ लाख पद हैं।

(३०) वीर्यानुवादपूर्व, अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व व ज्ञानप्रवादपूर्वके विषय व पदगणनाका निर्देश—तीसरा पूर्व है वीर्यानुवादनाम पूर्व। इसमें ६ द्रव्योंकी शक्ति वीर्यका वर्णन है। द्रव्यमें क्या शक्तियाँ हैं उन शक्तियोंका स्वयंमें क्या प्रभाव है यह सब वर्णन इस वीर्यानुवाद नाम पूर्वमें है। जीवकी शक्ति, पुद्गलकी शक्ति ये सब इस पूर्वमें बताये गए हैं। पुद्गलकी शक्तिका आजकल वैज्ञानिक लोग कितना प्रसार बना रहे हैं, यह जो अब तक बम बना पाये इससे असंख्यातगुणा प्रभाव है परमाणुमें। जीवकी शक्ति, जीव यदि व्यवहारके सारे ख्याल और विकल्पोंको तजकर एक शुद्ध अविकार अपने चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रखे तो उसके बलकी बात बतानेको शब्द ही नहीं हैं, पर यह जीव कर्मविपाकवश इतना कमजोर और कायर स्वच्छंद हुआ है कि वह बाह्य पदार्थविषयक मोह रागद्वेष छोड़नेको तैयार नहीं होता। और, हैं ये सब व्यर्थकी बातें। कितने दिनोंका जीवन है? इतने दिनोंके लिए उन बाह्य पदार्थोंमें कुछ राग कर लिया तो उससे आत्माका क्या उठता है? जो विवेकी ज्ञानी पुरुष हैं, सम्हले हैं, आत्मस्वरूपको सम्हाला है उनको ही तो बातें बतायी गई हैं कि ६४ ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं और फिर केवलज्ञान प्रथम ऋद्धि जिसमें लोकालोक तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ स्पष्ट ज्ञात हो गई। तो इस पूर्वमें द्रव्योंकी शक्तियोंका वर्णन है। इसमें ७० लाख पद हैं। चौथा पूर्व है अस्तिनास्तिप्रवादनामापूर्व, इसमें अस्तिनास्तिका हर प्रकारसे वर्णन है, जैसे जीवका स्वरूप स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे तो अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है, ऐसे ही अन्य अन्य जो धर्म पाये जाते हैं उन धर्मोंमें भी विवक्षावश अस्ति

Version 1

नास्तिकी बात बतायी गई है। और इस तरह अनेक धर्मोंमें विधि निषेध द्वारा सप्तभंग बताकर विरोध मिटाया गया है क्योंकि जहाँ मुख्य और गौणकी उपेक्षा कर दी जाय वहाँ विरोध नहीं होता। इस पूर्वमें ६० लाख पद है ५वाँ पूर्व है ज्ञानप्रवाद नामा पूर्व, इसमें ज्ञानके भेदोंका स्वरूप बताया है। जैसे ज्ञानके ५ भेद हैं— (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान और (५) केवलज्ञान, इनका विस्तारसे स्वरूप और इसमें भी जो अनेक भेद पड़े हैं उनकी अपेक्षा संख्या वहां बतायी गई है और उन ज्ञानोंका फल क्या है ? यदि मिथ्यात्व साथ हो तो उनमें से किन ज्ञानोंपर असर पड़ता है ? वे खोटे बन जाते हैं, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। तो ज्ञानविषयक समस्त तथ्योंका इसमें वर्णन है, इसमें पद हैं ९९ लाख अर्थात् एक लाख कम एक करोड़।

(३१) सत्यप्रवादपूर्वके विषय व पदगणनाका निर्देश—छठवें पूर्वका नाम है सत्यप्रवादपूर्व। इसमें वचनविषयक अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियोंका वर्णन किया गया है। सत्य वचन कितनी तरहके होते हैं ? कोई नाम सत्य है, कोई रूप सत्य है, कोई प्रमाण सत्य है। तो यह १० प्रकारके सत्योंका वर्णन है। असत्यका वर्णन जो जैसा पदार्थ है उससे उल्टा जानना, असत्यको सत्य जानना आदिक नाना प्रकारके असत्य वचनोंका वर्णन है। तो वचनविषयक सब प्रवृत्तियोंका वर्णन इस प्रवादमें किया गया है, तो वचनविषयक जो वर्णन है वह इतना विशाल क्यों किया कि इस मनुष्यका धन वचन ही है। सारा व्यवहार वचनोंसे चलता है। अच्छा बुरा होना वचनपर निर्भर है, और वचनोंपर इस मनुष्यको बहुत ध्यान रखना चाहिए, इतना विवेक रखना चाहिए कि किसी समय कषाय विशेष भी उमड़ आये तो भी वचन बुरे न निकलें, क्योंकि जो मनमें बात उमड़ी है वह जब तक भीतर ही है, बाहर नहीं प्रकट की है तब तक अपने अधिकारमें सब बात है। थोड़े समय बाद मनको समझा कर उस गड़बड़ीको निकाला जा सकता है, पर वचनसे गड़बड़ी जाहिर कर दी। और उसे कष्ट हुआ तो उस दूसरे की ओरसे भी कुछ प्रतिक्रिया होगी, फिर इसकी कषाय बढ़ती जायगी। यद्यपि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो भीतर है सो हम भीतर नहीं रखते, बाहर प्रकट कर देते हैं और इसमें वे अपनी शान समझते हैं, मगर उनकी यह कमजोरी है कि भीतरकी बातको भीतर ही रखकर दूसरे समयमें उस बातको नष्ट कर देना, यह बल उनके अंदर नहीं है और वह उस भीतरकी कषायके वेगमें बाहरी वचनों द्वारा उगल ही बैठता है कि किया तो यह गलत काम मगर लोगोंपर छाप डालनेके लिए कि भाई हम तो बिल्कुल साफ हैं, जो मनमें होता है सो वचनसे कह देते हैं। खैर मायाचारकी बात तो न रखना चाहिए कि दूसरेके अहितके लिए जो मनमें विचारा है अथवा जो कुछ कायसे करनेका इरादा किया है तो वचनोंसे अन्य तरह कहे, यह

बात तो न होनी चाहिए। कहना यह तो सही रहेगा ताकि वह थोड़े समयमें अपने भाव बदलकर स्वच्छ हो जाय, पर उल्टा न कहना चाहिए। तो इन वचनविषयक सभी तथ्योंका वर्णन इस सत्यप्रवाद नामके पूर्वमें किया गया है। इससे पद हैं १ करोड़ ६। इस तरह परिकर्मके ५ भेदोंमें से चौथा भेद जो पूर्वगत है उसमें ५ पूर्वोंका अभी वर्णन हुआ।

(३२) **आत्मप्रवादपूर्वमें नयप्रमाणसम्मत आत्मतत्त्वका वर्णन**—यह समस्त आगम अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिके मूलसे निकला है और गणधर देवने इसे गूथा है। जो गणधर देवने गूँथा वह उन्हीके द्वारा ही बोला जा सकता है। अथवा जो और ऋद्धिधारी मुनीश्वर हैं, जो श्रुतकेवलीसे परिचय है उनके द्वारा ही बोला जा सकता है। उस परम्परासे कुछ विषयोंको आगममें बाँधा है और शास्त्र रूपसे रचा गया है। तो मूल जो आगम है जिसे गणधरदेवने गूथा है उसकी चर्चा चल रही है। ११ अंग और १२ वें अगके पूर्वगत भेदोंमें ६ पूर्वोंका वर्णन कल किया था। ७ वें पूर्वका नाम है आत्मप्रवादनामा पूर्व। इस पूर्वमें आत्माका वर्णन है। आत्मा कर्ता है अथवा नहीं, भोक्ता है अथवा नहीं, ऐसे अनेक धर्मोंका निश्चय व्यवहारकी अपेक्षा वर्णन है। निश्चय देखता है एक ही पदार्थको, व्यवहार निरखता है भेदको, पर्यायको, घटनाको, सम्बन्धको। सम्बंध कहीं असत्य नहीं है। कोई कहे कि जीवका और कर्मका सम्बंध है, बंधन है यह व्यवहारनयसे जाना गया है इसलिए झूठ है, जीवके साथ कर्म बँधे नहीं है क्या? बँधे हैं अन्यथा यह संसार अवस्था कैसे होती? तो संबंध है वह झूठ नहीं है। लेकिन एक द्रव्यको जब निरखते हैं तो बंधन दिखता नहीं है। एक द्रव्यको निरखनेका नाम है निश्चयनय तो निश्चयनयसे जब देखते हैं तो दूसरा जब दिख ही नहीं रहा है तो बंधन कैसे कहा जाय? जैसे कोई एक ही फोटो देख रहा है हाथकी तो इसके मायने यह नहीं है कि दूसरा फोटो है ही नहीं, मगर वह एक ही फोटोको देख रहा है, वही उसके ज्ञानमें है, ऐसे ही निश्चयनय केवल एक द्रव्यको ही देखता है, अन्य द्रव्यको नहीं देखता है। यह उसकी एक कला है, और इसमें लाभ भी है कुछ मगर केवल एक अपने आत्मद्रव्यको ही देखे, अन्य कुछ न देखें तो इसके ज्ञानमें यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही रुचेगा, और इस विशुद्ध उपयोगके कारण कर्मोंका क्षय होगा। जहाँ हम अनेक द्रव्योंपर दृष्टि डालते हैं तो विकल्प होते, व्यग्रता होती है, तो निश्चय नयसे निरखनेमें लाभ है मगर कोई व्यवहारनयको झूठ कहकर व्यवहारनयका निषेध करके निश्चयनयके विषयको ही माने तो वह मिथ्यात्व है। तो निश्चय और व्यवहारका उस निश्चय व्यवहारकी अपेक्षासे अनेक धर्मोंका वर्णन आत्माके बारेमें आत्मप्रवादपूर्वमें है।

(३३) **निश्चय व्यवहारनयसे अनेक धर्मोंका आत्मप्रवादपूर्वमें वर्णन**—जैसे कर्तृत्वका निर्णय करें, आत्मा कर्ता है या नहीं, तो आत्मा कर्मका कर्ता है, परका कर्ता है, यह

Version 1

बात व्यवहारनयसे कही गई है। व्यवहारनयके मायने संबंध बताना। जीवका और कर्मका निमित्त नैमित्तिक संबंध है उस दृष्टिसे बताया गया है कि जीव कर्मका कर्ता है। उसका अर्थ निश्चयदृष्टिसे न लगाना, किन्तु व्यवहारनयसे कहा है तो व्यवहारदृष्टिसे ही अर्थात् निमित्त नैमित्तिक भावकी दृष्टि करके ही समझना कि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है, जिसका अर्थ यह होता है कि जीवके राग द्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलकर्मका बंध होता है और निश्चयसे देखें तो जीव पुद्गलकर्मका तो कर्ता नहीं है, पर अपने ज्ञान भावका कर्ता है। शुद्धनयसे देखा गया तो जीव अपने भावोंका कर्ता है इतनी भी बात नहीं रहती। वहाँ तो केवल एक अखण्ड तत्त्व ही ज्ञानमें आता है। यह विकल्प नहीं चलता वहाँ कि जीव अपने भावोंका कर्ता है। इसी प्रकार भोक्ताकी बात समझिये। जीव भोजन आदिकको भोगता है यह कथन तो व्यवहारनयसे भी नहीं, उपचारसे है। जैसे कोई कहे कि जीव मकानको करता है तो वह उपचारसे है ऐसे ही जीव इन बाहरी पदार्थोंको भोगता है, यह कथन उपचारसे है। और पुद्गलकर्मको भोगता है यह कथन व्यवहारनयसे है, क्योंकि पुद्गलकर्मका उदय आया, पुद्गलकर्ममें ही अनुभाग बना और उसका प्रतिफलन आत्मामें हुआ तो यह तो निमित्तनैमित्तिक संबंध है। तो यह व्यवहारसे कहा गया कि जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता है और निश्चयसे देखा जाय तो जीव अपने ज्ञान परिणामको भोगता है। चाहे वह किसी विषय कषायमें भी हो उसको भी भोगना कहेंगे। तो अपने ही आत्माको भोगता है यह तो निश्चयनयसे कहा गया और पुद्गल कर्मको भोगता है यह व्यवहारनयसे कहा गया। भोजन आदिक पदार्थोंको भोगता है यह उपचारसे कहा गया। शुद्धनयकी दृष्टिमें यह भोक्ता ही नहीं है क्योंकि वह निश्चयनयके विकल्पको भी स्वीकार नहीं करता। तो ऐसे नय विवरणके साथ आत्माके बारेमें वर्णन किया गया है आत्मप्रवाद पूर्वमें। इसमें पद २६ करोड़ हैं। आत्माकी बात जानना कितना मुख्य है और आत्माके बारेमें कितना विशेष वर्णन है कि इसके पद सभीसे अधिक हैं। २६ करोड़ पद अभी तक किसीके नहीं आये।

(३४) **कर्मप्रवाद पूर्वमें कर्मविषयक तथ्योंका वर्णन**—८ वाँ है कर्मप्रवादपूर्व। कर्मप्रवाद पूर्वमें कर्मोंके बारेमे वर्णन है, कर्म कोई कहने मात्रकी चीज नहीं है जैसे कि कर्मके संबंधमें लोगोंको भ्रम है। कोई कहता है कि जो किया सो कर्म है। जो भाव किया सो कर्म है, पर कर्मपुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है। जैसे एक पुद्गल स्कन्ध स्थूल है, आँखोंसे देखते हैं पर कर्ममें पुद्गल भी स्कंध है, अनंत परमाणुओंके पिंड हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि वे आँखोंसे भी नहीं दिख सकते और वे वज्रसे भी नहीं छिड़ सकते। वे कार्माण वर्गणायें इस जीवके साथ कर्मरूपसे बंध जाती हैं और उसमें निमित्त कारण है जीवका अज्ञानभाव।

बात व्यवहारनयसे कही गई है। व्यवहारनयके मायने संबंध बताना। जीवका और कर्मका निमित्त नैमित्तिक संबंध है उस दृष्टिसे बताया गया है कि जीव कर्मका कर्ता है। उसका अर्थ निश्चयदृष्टिसे न लगाना, किन्तु व्यवहारनयसे कहा है तो व्यवहारदृष्टिसे ही अर्थात् निमित्त नैमित्तिक भावकी दृष्टि करके ही समझना कि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है, जिसका अर्थ यह होता है कि जीवके राग द्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलकर्मका बंध होता है और निश्चयसे देखें तो जीव पुद्गलकर्मका तो कर्ता नहीं है, पर अपने ज्ञान भावका कर्ता है। शुद्धनयसे देखा गया तो जीव अपने भावोंका कर्ता है इतनी भी बात नहीं रहती। वहाँ तो केवल एक अखण्ड तत्त्व ही ज्ञानमें आता है। यह विकल्प नहीं चलता वहाँ कि जीव अपने भावोंका कर्ता है। इसी प्रकार भोक्ताकी बात समझिये। जीव भोजन आदिकको भोगता है यह कथन तो व्यवहारनयसे भी नहीं, उपचारसे है। जैसे कोई कहे कि जीव मकानको करता है तो वह उपचारसे है ऐसे ही जीव इन बाहरी पदार्थोंको भोगता है, यह कथन उपचारसे है। और पुद्गलकर्मको भोगता है यह कथन व्यवहारनयसे है, क्योंकि पुद्गलकर्मका उदय आया, पुद्गलकर्ममें ही अनुभाग बना और उसका प्रतिफलन आत्मामें हुआ तो यह तो निमित्तनैमित्तिक संबंध है। तो यह व्यवहारसे कहा गया कि जीव पुद्गलकर्मका भोक्ता है और निश्चयसे देखा जाय तो जीव अपने ज्ञान परिणामको भोगता है। चाहे वह किसी विषय कषायमें भी हो उसको भी भोगना कहेंगे। तो अपने ही आत्माको भोगता है यह तो निश्चयनयसे कहा गया और पुद्गल कर्मको भोगता है यह व्यवहारनयसे कहा गया। भोजन आदिक पदार्थोंको भोगता है यह उपचारसे कहा गया। शुद्धनयकी दृष्टिमें यह भोक्ता ही नहीं है क्योंकि वह निश्चयनयके विकल्पको भी स्वीकार नहीं करता। तो ऐसे नय विवरणके साथ आत्माके बारेमें वर्णन किया गया है आत्मप्रवाद पूर्वमें। इसमें पद २६ करोड़ हैं। आत्माकी बात जानना कितना मुख्य है और आत्माके बारेमें कितना विशेष वर्णन है कि इसके पद सभीसे अधिक हैं। २६ करोड़ पद अभी तक किसीके नहीं आये।

(३४) **कर्मप्रवाद पूर्वमें कर्मविषयक तथ्योंका वर्णन**—८ वाँ है **कर्मप्रवादपूर्व**। कर्मप्रवाद पूर्वमें कर्मोंके बारेमे वर्णन है, कर्म कोई कहने मात्रकी चीज नहीं है जैसे कि कर्म के संबंधमें लोगोंको भ्रम है। कोई कहता है कि जो किया सो कर्म है। जो भाव किया सो कर्म है, पर कर्मपुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है। जैसे एक पुद्गल स्कन्ध स्थूल है, आँखोंसे देखते हैं पर कर्ममें पुद्गल भी स्कंध है, अनंत परमाणुओंके पिंड हैं, किन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि वे आँखोंसे भी नहीं दिख सकते और वे वज्रसे भी नहीं छिड़ सकते। वे कार्माण वर्गणायें इस जीवके साथ कर्मरूपसे बंध जाती हैं और उसमें निमित्त कारण है जीवका अज्ञानभाव।

आया तो ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। वहाँ क्या बात है, कैसी कला है, इसको अधिक वचनों से कोई ब्योरा नहीं दे सकता, मगर ज्ञानावरण कर्मका उदय होवे तो उनका ज्ञानगुण प्रकट नहीं होता, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग हैं। दर्शनावरण कर्मका उदय होने पर दर्शन-गुण प्रकट नहीं होता। इन दोनोंमें ही यह बात तो जानियेगा ही कि जो ज्ञानावरणका उदय है, दर्शनावरणका उदय है। घातिया कर्मका जिसका भी उदय है वह सब आत्मामें प्रतिफलित होता है, छा जाता है और ज्ञानस्वभाव उससे ढक जाता है। जैसे दर्पणके सामने कोई नीली पीली चीज रखी है तो उसका ऐसा प्रतिबिम्ब होता हैं कि वह दर्पण सारा ढक जाता है। प्रतिबिम्बसे ढक गया, अब उस दर्पणमें स्वच्छता झलक नहीं रही। शक्तिमें स्वच्छता पड़ी है। भीतर स्वभावमें स्वच्छता ज्यों की त्यों है। मगर दशा देखें तो सारा दर्पण फोटोसे रंगा हुआ है। स्वभाव अब भी नहीं मिटा।

(३७) **कर्माक्रान्त होनेपर भी ज्ञानस्वभावकी सतत सम अन्तःप्रकाशमानता**—जैसे दर्पणका स्वभाव मिट गया हो तो फोटो आ ही न सकता था। कहीं भींत आदिक पर तो फोटो नहीं आती। दर्पणमें ही प्रतिबिम्ब आता है। स्वभाव नहीं मिटा कहीं। जब फोटो आ रही है उस वक्त भी स्वभाव अंतः प्रकाशमान है—उस कांचका, नहीं तो फोटो समाप्त हो जाय, ऐसे ही जिस कालमें कर्मोंका उदय है उन कर्मोंके उदयसे फोटो प्रतिबिम्ब प्रति-फलन आकार आ गया, छा गया वह सब कर्मरस। अब उस कर्मरसके छा जाने पर आत्मा के गुण स्वभाव प्रकट नहीं होता। ढक गया। यहाँ इतनी बात है कि ढक जाने पर भी कोई न कोई अंशमें थोड़ा बहुत ज्ञान प्रकाश हर एकके रहता है। तो ढक गया ज्ञानस्वभाव मगर ज्ञानस्वभाव अंतः प्रकाशमान है जीवमें। अगर जीवमे, ज्ञानस्वभाव मिट जाय तो वह कर्म भी प्रतिफलित नहीं हो सकता। कहाँ फोटो आये, कहाँ कर्मरस झलकेगा? जैसे किसी जीवको रागद्वेष करता हुआ निरखकर झट समझ लेते हैं कि इसमें चेतना है। अगर चेतना न होती तो रागद्वेष भी यह कैसे कर पाता? तो कर्मोदय एकदम आक्रान्त हो जाय तो भी आत्माका ज्ञानस्वभाव अलग नहीं होता, सतत, अंतः प्रकाशमान है। जैसे कितनी ही फोटुओंसे प्रतिफलित हो जाय दर्पण, तो भी दर्पणमें स्वच्छता निरन्तर अन्तःप्रकाशमान है। वहाँ इतना भी नहीं है कि एक समयको दर्पणमें स्वच्छता न रहे फिर आ जाय। एक समयको न रहे तो कभी न रहा, तो ऐसे इस ज्ञानस्वभावका आवरण करने वाले इस चैतन्य विकासका आवरण करने वाले ये सब कर्म हैं।

(३८) **वेदनीयकर्मके विपाकोदयकी रीति**—वेदनीयका उदय आता है तो उसकी एक कला है उदयकी, ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि साताका उदय होने पर जिन बाह्य

पदार्थोंको पाकर यह जीव साताका विकल्प करे, ऐसी चीज अपने आप मिल जाती है। आ जाती है। जगतमें जीव तो सब एक समान हैं किन्तु यह अन्तर किस बातका आया कि कोई श्रीमान् है और कोई दरिद्र है, यह सब साता असाताके उदयका अन्तर है। वेदनीय कर्मके उदयके दोमुखी काम है। इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका संग मिल जाना और इन्द्रियके द्वारा सुख और दुःखका वेदन कराना। वेदनीय कर्म इस प्रकारसे अपना फल हाजिर करते हैं। मोहनीय कर्म यह सब कर्मोंका राजा है। अगर मोहनीय उदयमें नहीं आ रहे तो सब तरहके कर्म उदयमें आयें तो भी जीवका कुछ बिगाड़ नहीं, पर ऐसा है कहाँ ?

(३९) **मोहनीय व आयु कर्मके विपाकोदयकी रीति**—मोहनीय कर्मका उदय है जिन संसारियोंके तो क्या होता है कि इसका नाच हूबहू दो जगह चल रहा है। कर्ममें तो कर्मके अनुभागका नाच चल रहा और उसका फोटो अक्स ज्ञेय जीवमें आ रहा। यह भी नाच चल रहा और इस नाचमें तो यह जीव अज्ञानी बनकर अपनी सुध भूलकर यह बाह्य पदार्थोंमें लग जाता है और दुःखी रहता है। तो मोहनीय कर्मका उदय इस तरह दिखता है जैसे कि कर्म तो नाच रहा है और यह जीव समझ रहा कि मैं नाच रहा, ऐसा ही अज्ञान बसा हुआ है। तो इस मोहनीयका भी बंध कहाँ तक है? सत्त्व कहाँ तक है। और किस-किस प्रकारसे है, यह बहुत बड़ा भारी वर्णन है। आयुकर्म इसके उदयका फल देनेका ढंग ही और है। जब तक आयुकर्मका उदय चल रहा है तब तक जीव उस शरीरमें ठहरा रहता है। उसका उदय समाप्त हो जाय किसी भी ढंगसे अपने समयपर या कोई आकस्मिक घटना होनेपर जीव फिर शरीरमें नहीं रह पाता। फिर जिस आयुका उदय होगा उस शरीरमें जाकर पैदा हो जाता। यह जीवका ऐसा बंधन है।

(४०) **नामकर्मके विपाकोदयकी रीति**—नामकर्मके उदयमें नाना प्रकार शरीरोंकी रचना हो जाती है। समयसारमें बताया है कि एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक, वादर सूक्ष्मादिक, पर्याप्त अपर्याप्त आदिक ये सब नामकर्मसे रचे गए हैं। नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर यह शरीर स्कंध बन जाता है, यह भी तथ्य है मगर इन शब्दोंमें न कह कर इन शब्दोंमें कहा गया है कि ऐसी ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ हैं उनके द्वारा यह शरीर रचा गया है। इसमें कुछ ऐसा लगता है कि नामकर्मकी जिन प्रकृतियोंका उदय होता है वे प्रकृतियाँ कुछ काल शरीर वर्गणाओंके साथ मिलकर उस रचावमें आता है और इसके शरीर वर्गणाओंके परमाणु तो स्थिरतया रहते हैं। जब तक कि शरीर है और वे नामकर्मकी प्रकृतियाँ सूख जातीं, उड़ जातीं। कुछ क्षणको ऐसा स्पर्श होता होगा कि उदयसे च्युत होकर कुछ क्षणको स्पर्श करके फिर वे बिघटती हैं। उदय होनेके बाद एक क्षण भी नामकर्मकी प्रकृति नामकर्म नहीं कहलाती। उदय

Version 1

हो चुका और उसका निमित्त पाकर शरीरकी रचना बन रही, मगर कुछ स्पर्श उनका रहता है तब ही तो बड़े जोरपूर्वक ऐसा कहा गया है कि ये सब नामकर्मके द्वारा रचे गए हैं। लोकमें ऐसा देखा जाता कि घड़ा तो बनता है मिट्टीका, पानीका नहीं बनता, मगर कुछ समय उसके साथ पानी मिला हो तो घड़ा बन पाता है। घड़ा बननेके बाद पानी सूख जाता है। उस पानीका अंश भी नहीं रहता। मगर प्रारम्भमें उस पानीका सम्पर्क होनेसे मिट्टी अपनेमें घड़ेका रूप रख पाती है। फिर पानी सूख गया। तो यद्यपि घड़ा मिट्टीसे ही बना, पानीसे नहीं बना, मगर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि पानीका कुछ सम्पर्क हो तो घड़ा बननेका काम बने। नामकर्मके द्वारा रचा गया है यह शरीर। इस शब्दसे ऐसा संभव हो सकता है कि उदय होकर यह कर्मप्रकृति तो नहीं रहती, मगर कुछ काल यदि अल्प काल में उन शरीर वर्गणाओंसे स्पर्श करे, फिर यहाँसे भी हट गया। इस तरह नामकर्मका विपाक चलता है।

(४१) गोत्र एवं अन्तरायकर्मके विपाकोदयकी रीति व कर्मप्रवादके पदगणनाका निर्देश—गोत्र नामका विपाक—इसके उदयका निमित्त पाकर जीवमें यह व्यवहार बना कि यह उच्च कुलमें पैदा हुआ, यह नीच कुलमें पैदा हुआ। इस तरह गोत्रकर्मका उदय चला, और अन्तराय कर्मका उदय होनेपर यह जीव दान लाभ भोग उपभोग शक्तिविकास आदिक नहीं कर पाता। दान देनेके भाव होकर भी दान नहीं दे सकता। दातार सोच ले कि देना है दान फिर भी दान देते समय रुक जाता है, दान वापिस आ जाता है, यह है दानान्तरायके उदयका फल। कितने ही लोग ऐसे हैं कि जो यह कहते हुए पाये गए कि भाई मैं अपने हाथ से तो नहीं दे सकता, मगर आप लोग जबरदस्ती उठाकर ले जावो। ऐसा अपने आप मुखसे बोलते हैं। यह क्या है ? यह दानान्तराय कर्मका विपाक है। ऐसे ही लाभ भोग उपभोग वीर्य, ये भी प्रकट नहीं हो पाते, ये अन्तरायके विपाक हैं। तो ऐसे कर्मके विपाक बंध सत्त्व, इनका वर्णन अनेक विधियोंसे इस कर्मप्रवाद पूर्वमें किया गया है। इसमें पद हैं १ करोड़ ८० लाख।

(४२) प्रत्याख्यानपूर्वके विषय व पदगणनाका निर्देश—गणधरदेवके द्वारा लिखे गए १२ अङ्गोंमें यह १२ वें अंगका प्रकरण चल रहा है। दृष्टिवाद अङ्गके ५ अधिकार हैं। परिकर्म, प्रथमानुयोग सूत्र, पूर्वगत और चूलिका, जिनमें पूर्वगतका वर्णन चल रहा है। पूर्व १४ होते हैं, जिनमें ८ पूर्वोंका वर्णन हो चुका। ९ वाँ पूर्व है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यानका अर्थ है त्याग। प्रत्याख्यानावरण प्रधान बने, प्रत्याख्यानका आवरण करे उसे प्रत्याख्यानावरण

करते हैं । प्रत्याख्यान मायने पापका त्याग । पापोंके त्यागका अनेक प्रकारसे वर्णन है । पाप कितने होते हैं, इनकी कोई संख्या नियत नहीं है । पाप तीन होते हैं—(१) मनसे किए हुए, (२) वचनसे किए हुए, (३) कायसे किए हुए । पाप ९ होते हैं—(१) मनसे किए हुए, (२) मनसे कराये गए और (३) मनसे अनुमोदे, गए, (४) वचनसे किए हुए, (५) वचनसे कराये हुए और (६) वचनसे अनुमोदे हुए, (७) कायसे किए गए, (८) कायसे कराये गए और (९) कायसे अनुमोदे गए । पाप २७ होते हैं– इन ९ से संकल्प किए गए, इन ९ से पापके साधनों को जोड़ा गया और इन ९ से पापका प्रारम्भ कर दिया यों ९ × ३ = २७ पाप होते हैं । पाप १०८ होते हैं—ये २७ पाप क्रोधमें बन रहे हों, मानसे बन रहे हों, मायाचारसे बन रहे हों और लोभसे बन रहे हों, ऐसे ये १०८ प्रकारके पाप हैं । इनका और भी विस्तार हो सकता है । तो इन अनेक प्रकारके पापोंको अनेक विधियोंसे त्याग करनेका वर्णन इस ९ वें प्रत्याख्यानपूर्वमें है । पापके त्यागकी विधि क्या है ? तो विधि तो एक ही है । अपने सहज अविकार चैतन्यस्वरूपमें अपने सत्त्वका अनुभव करना मैं यह हूं । एक ही विधि है पापोंके त्यागकी । पर यह बात जिनसे न बन सके उनके लिए अनेक विधियां हैं व्रत करें, नियम दें, तप करें । अमुक संयमसे रहें, उनके लिए अनेक विधान हैं । पर उन सब विधियोंमें यदि इस प्रधान विधानकी सुध है तो मोक्षमार्ग चल रहा, और अगर इस प्रधान विधिकी सुध नहीं है, अविकार आत्मस्वरूपकी सुध नहीं हैं तो वह कुछ पुण्यबंध कर लेता है मगर मोक्षमार्ग नहीं मिलता । इस प्रत्याख्यान पूर्वमें ८४ लाख पद हैं ।

(४३) **विद्यानुवादपूर्वमें विद्यासाधनोंका विषय**—१०वां पूर्व है विद्यानुवाद । इस पूर्वमें ७०० छोटी विद्याओं और ५०० बड़ी विद्याओंका स्वरूप बताया गया है । इन विद्याओं की साधना किस तरह होती है और इनका यंत्र क्या है और सिद्धि हुए बाद इसका फल क्या मिलता है ? यह सब वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमें है और अष्टांग धर्मका वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमें है । कौनसी घटना देखकर गए उसका फल है, यह सब वर्णन विद्यानुवाद पूर्वमें है । जो मुनि इस विद्यानुवाद पूर्वकी सिद्धि कर लेता है और आनन्द जगता है वह मुनि १० पूर्व विद कहलाता है, यह एक ऋद्धि होती है । अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव ९वें पूर्व तक ही क्यों रहते हैं, हैं वे मुनि ऊँचे । उनका तपश्चरण अच्छा, ज्ञान भी बहुत, साधना अच्छी, पर कुछ मिथ्यात्वका अंश रह गया है जिसके कारण वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं । ऐसे मुनि ९वें पूर्व तक ही क्यों रहते ? आगे बढ़ते तो हैं और विद्यानुवादकी साधना भी करते हैं, पर किसीको सिद्ध नहीं होता और किसीको कुछ थोड़ा थोड़ा सिद्धसा होने लगता है, तो वे विद्यायें आती हैं और अपना सुन्दर रूप दिखाती हैं और उनकी आज्ञा मानती हैं । आपका

जो हुकुम हो सो करें, उस समय वे अपने परिणामसे डिग जाते हैं, चिग जाते हैं वे आगे बढ़ नहीं सकते। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनि हैं, वे अनेक विद्यायें भी आयें, बड़ा निवेदन करें कि जो चाहो सो हम काम करें, लेकिन वे कुछ भी फल नहीं चाहते इसलिए वे साधु और भी आगे बढ़ते हैं। वे ज्ञानी हैं।

(४४) **धर्मसाधनाके फलमें लौकिक सुख चाहनेकी महापराधरूपता**—भैया, धर्मसाधना करके कोई फल चाहना यह एक बहुत बड़ी तुच्छता है, मिथ्यात्व है। चाहनेका तो मनुष्य कीड़ा बन रहा है। जब चाहे जिस चीजकी चाह कर बैठता है, पर किसी चीजकी चाह करना एक महान् अपराध है। वैसे घर गृहस्थीके बीच रहकर किसी चीजकी चाह करना उतना बड़ा अपराध नहीं माना गया, पर धर्म करनेके एवजमें कोई सांसारिक फलकी चाह करना यह भारी अपराध है। कोई अगर यह माने कि अमुक तीर्थमें जानेसे यह फल मिलेगा तो यह इसका कोरा भ्रम है। कोई भी तीर्थस्थान किसीको कुछ सांसारिक फल नहीं देता मानो कोई मानता कि महावीरजी जानेसे धन मिलेगा तो उसका यह ख्याल मिथ्या है। क्योंकि जिन देशोंमें मान्यता नहीं है महावीरजी की जैसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस आदि, वहाँ पर भी तो एकसे एक बड़े धनिक देखे जाते। अरे जिसे जितना जो कुछ धन वैभव मिला वह सब पूर्व पुण्य प्रतापसे मिला, अब उसकी कुछ आशा करके, उसकी इच्छा रखकर जो पाप कमाये जा रहे हैं उसके फलमें दुर्गतियोंमे जन्म मरण करना होगा। मान लो धर्म करनेके एवजमें किसीको अच्छा फल मिल गया तो कहीं चाहनेसे नहीं मिला, वह सब पूर्वकृत पुण्यका फल है। आत्मसाधना तो निरीह भावसे करना चाहिए। किसी प्रकारकी वाञ्छा नहीं, बस प्रभुका (वीतराग सर्वज्ञदेवका) स्वरूप चिन्तन चल रहा है। जगतमें कहीं सार नहीं है सो प्रभु जगतके अणु अणुको त्यागकर अपने आत्मामें लीन हुए हैं, और ऐसा जो ध्यान करेगा वह क्या लोककी इच्छा करेगा? वह भी उसी ढंगसे चलेगा। तो धर्मधारण करके जो फल प्राप्त हुआ है पूर्व पुण्यसे उसको यों मानना कि इस धर्मके कारण हुआ है, यह धर्मकी महिमाको घटा देता है। धर्मका फल तो इससे ऊँचा है। यह तो बाह्य भिन्न वैभवों का संयोग मिल गया है, उससे जीवका क्या बनता है?

(४५) **तृष्णारहित होकर धर्मसाधनामें निराकुलताका योग्य**—जो विवेकी जन हैं उनमें एक यह गुण होता है कि वे तृष्णा नहीं करते। परिग्रहके संग्रहमें लम्पटता नहीं रखते। कर्तव्य करना है तो कर्तव्य करनेके नातेसे जो कुछ सुगमतासे बन जाय उसमें ही वे प्रसन्न रहते हैं। यह गुण ज्ञानी पुरुषमें होता है जिसके कारण गृहस्थीमें रहकर भी वे अनाकुल रहते हैं। चिन्ता क्या है? कार्य करते करते भी यदि नुक्सान चल रहा है या कुछ बिगड़

गया है तो यों समझो कि परिवारमें रहने वाले लोगोंका भाग्य अच्छा नहीं है इसलिए नहीं धनार्जन हो रहा । आपका भाग्य उसमें खोटा नहीं, क्योंकि खुद तो ज्ञानमात्र हैं, अकेले हैं । अपने स्वरूपमें रहें, रमें, इसमें तो जिनके भाग्यमें कमी आयी उनका भाग्य खोटा है और वे परजीव हैं । उन्हें हम कुछ कर नहीं सकते । कितने ही चिन्तन हैं ऐसे जो इसको अनाकुल रखते हैं ।

(४६) विद्यानुवाद पूर्वके विषयका उपसंहार व पदगणनाका निर्देश—विद्यानुवाद पूर्वमें विद्या सिद्ध होती है और वह हुक्म चाहती है । भला हजार बारह सौ जहाँ विद्यायें सिद्ध हो जायें और वे आकर हर प्रकारसे आत्मसमर्पण करें कि आप आजसे हमारे मालिक हैं, जो आप चाहें सो कर लीजिए, इस बातमें जो चिग गया वह संसारमें गया और वहाँ जो नहीं चिगता, एक अपने आत्माका ही ध्यान अभीष्ट है वह संसारसे पार हो जाता है । इस विद्यानुवाद पूर्वमें १ करोड़ १० लाख पद हैं ।

(४७) कल्याणवाद पूर्वमें गर्भकल्याणसम्बंधित विषयोंका प्रतिपादन—११वें पदका नाम है कल्याणवाद । इसमें कल्याणका वर्णन है । जो मंगल हैं, भली भली बातें हैं उन सबका प्रतिपादन है । तीर्थंकरके गर्भकल्याणक आदिकका चक्रवर्तीके यथोचित उत्सवोंका तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत सोलह भावनाओंका यह सब विशेषतया वर्णन है । तीर्थंकर के पंचकल्याणक होते हैं । इतना उनके विशिष्ट पुण्य है कि गर्भमें वे नहीं आये अभी । इस समय या तो स्वर्गादिकमें हैं या नरकमें हैं । गर्भमें नहीं आये अभी, पर गर्भमें आनेसे ६ महीने पहलेसे ही रत्नवर्षा होती है । पंचकल्याणक वाले तीर्थंकर या तो नरकसे आकर जन्म लेते हैं या स्वर्गसे आकर जन्म लेते हैं । जिनका पंचकल्याणक होता है वे तीर्थंकर मनुष्यभव से नहीं पहुंचते और तिर्यञ्च भवसे भी नहीं पहुंचते । तो जो नरकसे आकर तीर्थंकर होते हैं तो उनको आयुसमाप्तिसे ६ महीने पहले देव जाकर उनके चारों ओर कोट बनाते हैं । कोई नारकी वहाँ न पहुंचे, इसकी सारी व्यवस्था रहती है, कोई इन्हें पीटे मारे नहीं, इससे पहले तो पिट रहे थे, पीट भी रहे थे, मगर जबसे गर्भकल्याणक मनाया जा रहा तबसे उनकी सेवा के लिए देव पहुंचते हैं । ६ महीना वे बाहरी उपद्रवोंसे दूर रहते हैं, नहीं तो यह बड़ी विडम्बना बने । अगर देव वहाँ न पहुंचें और नारकियोंसे, कोट वगैरहसे रक्षा न करें तो यहाँ तो बरस रहे रत्न और वहाँ वे पिट रहे, जिसका गर्भकल्याणक मनाया जा रहा वह जीव पिट रहा तो यह कोई तुक तो नहीं मिला । तो ६ महीना पहलेसे रत्नवर्षा होती है और ६ महीना आयु जब रह गई नारकीकी, जिसको तीर्थंकर बनना है, उसकी देव रक्षा करते हैं और जो स्वर्गोंसे और ऊपरके ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर आदि विमानोंसे उतरकर जन्म लेते

हैं····। फिर गर्भसे ६ महीना पहलेसे गर्भकल्याणक मनाया जाता है। १५ महीने तक उत्सव समारोह मनाया जाता है। यहाँ मनुष्योंमें तो ज्यादहसे ज्यादह कोई ७ महीनेसे गर्भमें हो तब समारोह मनाते हैं, कुछ लेन-देन करते, भेजते, पर तीर्थंकर प्रभुका गर्भसे पहले ही समारोह मनाते हैं। देवियाँ आकर सेवा करती हैं, ६ बड़ी देवियाँ, ५६ कुमारियाँ जिनकी सेवा करती हैं।

(४८) **कल्याणवादपूर्वमें जन्मादि कल्याणसम्बन्धित विषयोंका निर्देश**—जन्म जन्माणकमें बहुत बड़ा समारोह इन्द्र देव अपनी पूरी ताकत लगाकर उस समय समारोह मनाता है। तपकल्याणकमें भी बड़ा वैराग्यमय समारोह मनाते, सबके भाव भीग जाते हैं। देव और इन्द्रके भी भाव भीगने लगते हैं। उनके साथ अनेक महाराज दीक्षा ले लेते हैं। थोड़ा ऐसा सोचना तो चाहिए कि हम कितना बुद्धिमान हैं, पहले हमसे भी बड़े-बड़े बुद्धिमान धनी राजा पुरुष भरी जवानीमें सर्व कुछ वैभव त्यागकर धर्मसाधना करते थे, तो कुछ सार तो समझा था उन्होंने धर्ममें और बाहरी वैभवोंको असार और हेय तो समझा था उन्होंने। यहाँ असार और हेय न समझें तो कमसे कम इतना तो करें कि उसकी अधिक तृष्णा तो न रखें। अधिक तृष्णा रखनेसे लाभ भी कुछ नहीं। कर्तव्य है गृहस्थोंमें कि धर्म, अर्थ और कामका समान साधन करें। तो तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक। जब प्रभुको केवलज्ञान हो जाता है इस समयकी खुशियाँ भी बड़ी विचित्र होती हैं। प्रभु बन गए, वीतराग सर्वज्ञ अरहंत सकल परमात्मा, इनका दर्शन मिलना एक बहुत ऊँचे भाग्यकी बात है, फिर दिव्यध्वनि सुननेके आनन्दका तो कुछ कहना ही क्या है? बड़ा समारोह मनाते हैं। समवशरणकी रचना होती है। मोक्षकल्याणकके समय यह भी एक उत्कृष्ट दृश्य है। उस समय बात तो खुशीकी हुई कि भगवान सदाके लिए मोक्ष गए, मगर कितने ही लोग बड़ा विषाद भी मानते होंगे। हमें रोज-रोज मिलते थे, दर्शन होते थे, अब यह सदाके लिए गए। आखिर कुछ प्रीति तो हो ही जाती है। तो उस वक्त खेद करने वाले भी बहुतसे लोग होंगे और जो उनके माता-पिता वगैरह कोई हों या उनके प्रधान शिष्य हों उनको तो बड़ी विरक्ति भी और खेद भी होता है। मगर मोक्षकल्याणकसे बढ़कर और खुशीका कोई काम नहीं है। सदाके लिए सर्व संकटों से छूट गया और अपने आपके अनन्त आनन्दमें वह लीन हो गया। पूर्ण पवित्रता आ गई, अब रंच भी चिगना नहीं होता। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यकी तरह निष्क्रिय, निश्चल, निस्तरंग, बस एक ज्ञानज्योति, सारा लोकालोक ज्ञानमें आ रहा, पर फोकट। किन्तु जानते भगवान सबको। उन्हें भी क्या लाभ और हमें भी क्या लाभ? उनके बजाय हम आप जानते होते तो कितने ही काम कर डालते। पर जो काम करनेकी धुन रखते हैं उन्हें ज्ञान नहीं होता

और जो सर्व कार्योंसे विराम लेते हैं उनको ज्ञान बढ़ता है । कृतकृत्य हैं, सब कुछ ज्ञानमें आ रहा, मगर रंच भी खेद नहीं, रंच भी हर्ष नहीं । तो ऐसे कल्याणका वर्णन इस ११वें पूर्व में है ।

(४६) **कल्याणवादपूर्वमें तीर्थंकरप्रकृतिबंधके कारणभूत षोडश भावनावोंका वर्णन व पदगणनाका निर्देश**—उस तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत १६ भावना व सम्यग्दर्शन है और सर्व जीवोंके प्रति सद्भाव बनाता है कि सब दुःखी हैं, केवल एक अपना ज्ञान न होने से । इन सबको ज्ञान प्रकट हो और इन सबका खेद दूर हो, ऐसी बड़ी कृपाकी भावना होती है । उनमें विनय सम्पन्नताका मुख्य गुण है । कबसे बात कर रहे हैं ? तीर्थंकर होनेसे पहले भवकी बात, जिस भवमें तीर्थंकर प्रकृति बँध गई, श्रावक हो वह भी तीर्थंकर प्रकृति बाँध सकता, मुनि हो वह भी बाँध सकता, श्रावक भी न हो, अविरत सम्यग्दृष्टि हो चतुर्थ गुणस्थान वाला, वह भी तीर्थंकरप्रकृतिका बंध कर सकता । अज्ञानी नहीं कर सकता । धर्मात्मा को निरखकर, ज्ञानीको निरखकर ऐसा अन्दाज होता है कि जितना आह्लाद अपने परिवार को देखकर नहीं होता । ज्ञानीकी महिमा ही अलग है । परिवार तो ज्ञाता दृष्टा रहता । एक कर्तव्यके नातेसे सब कुछ करता, पर धर्मात्मा जनोंके प्रति उसका वात्सल्य विशेष रहता । जब कि अज्ञानियोंकी वृत्ति होती है धर्मात्माओंसे उपेक्षा और परिजनोंसे प्रीति करनेकी । ज्ञानी पुरुषकी वृत्ति अज्ञानियोंसे विपरीत होती है । गृहस्थीमें रहनेके नातेसे वह सब व्यवस्था बनाता फिर भी परिवारके लोगोंके प्रति उसका आकर्षण नहीं रहता । उसका आकर्षण रहता है रत्नत्रयके धारण करनेका जिसके मनमें जिसकी धुन है उसको देखकर वह आकर्षित हो ही जाता है । ज्ञानी पुरुष तो विनय सम्पन्नता या शीलव्रत धारण आदिके जो संकल्प बनाता है उनमें वह दृढ़ रहता है । वह निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रखता है । ज्ञानस्वरूप मैं हूं । यह ज्ञान ज्ञाता ही रहे, यह ही मेरी पवित्रता है । यह ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करने वाली भावना है । उनका सम्वेग भाव, धर्मात्मा जनोंमें अनुराग और संसार शरीर भोगोंसे उपेक्षा, यथाशक्ति त्याग और यथाशक्ति तपश्चरण । लोग यथाशक्तिका अर्थ क्या लगाते कि यथाशक्ति करना मायने तुम्हारी जितनी शक्ति है उससे कई गुना कम करो, थोड़ा करो, पर यथाशक्तिका यह अर्थ नहीं है । किन्तु यथाशक्तिका अर्थ है कि अपनी शक्ति न छिपाकर पूरी शक्तिसे काम करो तो यथाशक्ति त्याग, यथाशक्ति तप, उनकी वृत्ति होती है जिनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हो रहा । साधु जनोंकी संगति, समता परिणामकी प्रशंसा, उनके साम्य भाव की सिद्धिके लिए हर प्रकारके आयोजन, उनकी वैयावृत्ति करना, अरहंतकी भक्ति करना, बहुत ज्ञानी हों उनकी भक्ति करना, आगमकी भक्ति करना, जो आवश्यक कर्तव्य हैं उनको

बार बार किया जाना, जैनधर्मकी प्रभावना करना, आगममें धर्मात्मा जनोंमें वात्सल्यभाव रखना ऐसी कुछ सद्भावना है कि जिससे तीर्थंकरप्रकृतिका बंध होता हैं। तो यह सब वर्णन कल्याणवाद पूर्वमें है। कल्याणकसम्बन्धित विषयोंके अतिरिक्त चन्द्र सूर्यका गमन कैसे होता है और उनके कारण कौन-कौन सगुन असगुन कल्याण है यह भी वर्णन इस पूर्वमें है। इसमें हैं २६ करोड़ पद।

(५०) प्राणवाद पूर्वमें वैद्यक सम्बन्धी विषयोंका निर्देश—१२वाँ पूर्व है प्राणवाद। इस प्राणवादपूर्वमें वैद्यक संबंधी बातोंका वर्णन है। आज लोकमें जितने भी शास्त्र हैं, आगम हैं मतमतान्तर हैं उनका वर्णन वे लोग अच्छा नहीं कर सके जितना वर्णन द्वादशांग में पड़ा है। खोटी बातोंका वर्णन, खोटे धर्मोंका वर्णन, सभी बातोंका वर्णन इस द्वादशाङ्ग में है। जो जैन शासनमें नहीं है वह कहीं नहीं है, पर उनका वर्णन वस्तुस्वरूप बतानेके लिए है, श्रद्धा करानेके लिए नहीं है। तो वैद्यकका भी वर्णन इस प्राणवाद पूर्वमें है। कैसे चिकित्सा करना, कैसे निदान करना, किन-किन औषधियोंमें क्या-क्या गुण हैं? अभी वैद्यक शास्त्र बहुत हैं मगर जैन वैद्यकशास्त्र तो देखो हमने एक बार देखा था। उनमें किस-किस ढंगसे वर्णन है। प्रारम्भ किया है उसमें पूर्वभवसे और है वैद्यकशास्त्र जन्म हुआ। जाति-स्मरणका वर्णन किया और पूर्वभवके संस्कारका किस प्रकार यहाँ एक प्रभाव रहता है उसका वर्णन किया क्योंकि रोगनिदान औषधि इन सबमें यह भी काम आता है। फिर ऐसा क्रमसे वर्णन है कि जो क्रम जैनाचार्योंकी कृतियोंमें है।

(५१) प्राणवाद पूर्वमें भूतव्याधि, विषचिकित्सा व स्वरोदयके फलका वर्णन व पदगणनाका निर्देश—वैद्यकमें भूतादिक व्याधियोंका भी वर्णन है यह भी एक व्याधि है कि किसीको भूत लगे, अब वह भूत लगना दो तरहका है। एक तो दिलमें भूत बना लिया, अपनी कुछ कल्पना कर डाला। तो यह व्याधि दूर करनेके मंत्र आदिकका वर्णन इस प्राणवाद पूर्वमें है, और विष भी रोग है। सर्पका विष, अन्य विष, तो इस विषके दूर करनेका भी उपाय इस प्राणवादमें है। स्वस्थ होनेका एक उपाय स्वरसाधना भी है और स्वर उन व्याधियोंके बतानेका उपाय है। इंगला, पिंगला, सुषम्ना आदिकके सहारेसे दूसरे रोगोंका शुभ अशुभ बताया जा सकता। नाकके दाहिने छिद्रमें वायु है या बायें छिद्रसे वायु निकल रही या दोनोंसे निकल रही, या कुछ ऊपर होकर निकल रही या नीचेसे निकल रही या कितने अंगुल तक निकल रही, इन सबका विचार करके दूसरेका शुभ अशुभ बताया जाता है। तो स्वरोदयका भी इस १२वें पूर्वमें वर्णन है। इसमें १२ करोड़ पद हैं। पूर्वोंका वर्णन बहुत विशाल है, इसीलिए ऐसा कह दिया जाता कि ये १४ पूर्वके ज्ञानी हैं, ये १० पूर्वके

ज्ञानी हैं। उसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि ११ अङ्ग तो जानते ही हैं मगर इन पूर्वोंको भी जानते हैं।

(५२) **क्रियाविशालपूर्वमें संगीतविधानोंका वर्णन**—दृष्टिवाद अङ्गके पूर्वगत नामके अधिकारमें जो पूर्वोंका वर्णन चल रहा है उसमें १३ वाँ पूर्व है क्रियाविशाल। क्रियाविशाल नामक पूर्वमें अनेक क्रियावोंका वर्णन है और वे क्रियायें कला सहित हैं। तो कला और क्रिया इन सभीका वर्णन इस पूर्वमें है। जैसे संगीत शास्त्र यह भी एक क्रिया है। संगीत शास्त्र एक ऐसी क्रिया है कि जिसके आधारसे यह जीव ध्यान और धार्मिक प्रेरणाओंमें बढ़ता है। संगीतशास्त्र मुख्यतया धर्म साधनाका अङ्ग मानकर चला था लेकिन धर्मप्रेमी जीव रह गए कम, रागप्रेमी हो गए अधिक तो उन्होंने संगीतको रागमें ढाल लिया। पहले समयमें जितने संगीत हुआ करते थे वे धार्मिक योजनाओंमें चलते थे और इसी कारण संगीतका बड़ा आदर था। ऊंचे ऊँचे ग्रन्थोंमें भी संगीत शास्त्रका वर्णन चलता था। एक सरस्वतीकी फोटो लोग बनाते हैं कि सरस्वती देवी तालाबके बीच कमलके ऊपर बैठी है। उसके नीचे हंस बैठा है और उस देवीके चार हाथ हैं, एक हाथमें पुस्तक है, एक हाथमें वीणा है। एक हाथमें माला है, एक हाथमें मानो शंख है। तो उसमें जो वीणा दिखाई गई है और सरस्वती देवीकी वीणा ही मुख्य है। न भी चार हाथ दिखाया हो फोटोमें तो भी वीणा अवश्य दिखाई जाती है। तो वह सरस्वतीकी जो वीणा है उस वीणासे यह संकेत मिलता है कि धर्मध्यानके लिए, ज्ञानप्रकाशके लिए संगीत बहुत प्रधान अच्छा उपाय है जिसमें लोगोंको दिल भी लगे और धर्मकी बात भी सीखें। क्रियाविशाल पूर्वमें संगीत शास्त्रका वर्णन है।

(५३) **क्रियाविशालपूर्वमें छन्द अलंकारादिका वर्णन**—इसी पूर्वमें छंद कैसे बनाये जाते? संस्कृत या अन्य-अन्य भाषाओंके छंद मात्र गण तुक संतुलन आदिक सभीका भले प्रकार वर्णन है कि छंद शास्त्र इस तरह रचे जाते हैं। संगीतका और छंदोंका बड़ा संबंध है। संगीत गायन पर ही होगा और गायन शुद्ध होगा तो संगीत ठीक चलेगा और गायन शुद्ध वही कहलाता है कि जहाँ मात्र गण आदिक सब ठीक होते हैं। तो इस क्रियाविशाल पूर्वमें छंदका भी पूरा वर्णन है। अलंकार आदिक जैसे महिलाओं अथवा पुरुषोंकी शोभाके लिए शृंगारके लिए कई प्रकारके अलंकार होते हैं कोई सोना चाँदीके होते तो कोई केवल एक चित्रके होते, जैसे चंदन लगाया या अन्य जगह कोई रचना हुई, या मेंहदी लगाया तो अलंकार कई ढंगके होते हैं। कैसा कौनसा अलंकार कब ठीक है उसका वर्णन है तथा छंद शास्त्रके साथ साथ उनका अलंकार चलता है। जैसे कभी कभी किसीकी प्रशंसा निन्दाके शब्दोंमें भी चलते हैं। सुननेमें ऐसा आता है कि जैसे मानो निन्दा की जा रही हो मगर हो रही प्रशंसा। कहीं उपमा

के रूपमें भी अलंकार है, जैसे कह दिया कि इसका मुख चंद्रमाकी तरह है। कुछ भी बात पायी जाती है, पर यह बतानेके लिए कि इसके मुखमें शोभा है और कुछ कांति भी है इसलिए चंद्रमाकी उपमा अलंकार हुआ, इस प्रकार अनेक अलंकारोंका वर्णन इस क्रिया विशाल पूर्वमें है।

(५४) क्रियाविशालपूर्वमें चौंसठ कलाओं तथा चौरासी गर्भादिक्रियावोंका वर्णन—क्रियाविशाल पूर्वमें ६४ कलाओंका वर्णन है। इन ६४ कलाओंमें सब विद्यायें आ गईं। धन कमाना, रसोई बनाना, व्याख्यान देना, पढ़ाना, पढ़ना आदिक सब बातोंकी कलायें आ जाती हैं। तो उन ६४ कलावोंका अलग-अलग वर्णन विस्तार रूपसे इस पूर्वमें किया गया है। कल्याणवाद क्रियाविशाल पूर्वमें गर्भाधान आदिक ८४ क्रियावोंका वर्णन है। गर्भ होना, जन्म होना, कैसे बच्चोंका पालना पोषना यह सब वर्णन क्रियाविशाल पूर्वमें है। देखिये—यह आगम श्रुतज्ञान है मगर जो बात जैन आगममें न मिले वह बात दुनियामें कहीं नहीं है। खोटी बात अच्छी बात जो भी बात दुनियाके अन्दर है सबका वर्णन द्वादशाङ्गमें मिलता है। वहाँ एक समझनेकी बात है और निराकरण भी तो आगममें किया गया है, पापका अगर वर्णन है तो वह पाप करनेके लिए वर्णन नहीं, किन्तु त्यागनेके लिए वर्णन है। वर्णन सब प्रकारका मिलेगा। कौन पालनेके योग्य है, कौन त्यागनेके योग्य है? तो जितनी व्यावहारिक बातें हैं। कैसे अच्छा जीवन रहे, कैसे पालन-पोषण हो, इन सब बातोंका वर्णन इस क्रियाविशाल पूर्वमें है।

(५५) क्रियाविशाल पूर्वमें एक सौ आठ सम्यग्दर्शनादि क्रियाओं तथा देववंदनादिक २५ क्रियावोंका वर्णन—सम्यग्दर्शन आदिक १०८ क्रियावोंका भी वर्णन इस क्रियाविशाल पूर्वमें है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्आचरण कैसे अध्ययन करना, कैसे श्रद्धान करना आदिक सब वर्णन इस पूर्वमें हैं। देववंदन आदिक २५ क्रियावोंका भी वर्णन है। देववंदन—कैसे नमस्कार करना, कैसे स्तवन करना, कैसे भगवानसे आवेदन करना और गुरु आदिकको कैसे सेवा विनय करना आदिक सभी क्रियावोंका वर्णन इस पूर्वमें है। पर जो श्रावकके लिए या मुनिजनोंके लिए रोजके करनेके काम हैं या नैमित्तिक काम हैं, कोई विशेष पर्व आया—अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टान्हिका, दशलक्षण आदि तो उनमें कौनसी क्रिया करनी चाहिए, ऐसी सब क्रियावोंका वर्णन इस क्रियाविशाल पूर्वमें है। इस पूर्वके पद ९ करोड़ हैं।

(५६) त्रिलोकबिन्दुसार पूर्वमें लोकस्वरूपका वर्णन—१४वाँ पूर्व त्रिलोकबिन्दुसार है। इस पूर्वमें तीनों लोकका स्वरूप बताया है। जिसे एक संक्षेप रूपसे जानते हैं कि यह लोक पुरुषाकार है। सो पुरुष खड़ा करनेसे लोकका आकार नहीं बनता, किन्तु ७ पुरुषोंको

एकके बाद एक खड़ा किया जाय और फिर वे सभी पुरुष अपने अपने पैर फैलाकर कमरपर हाथ रखकर खड़े हों तो लोकके आकारका चित्रण हो जाता है। लोक सामनेसे नीचेसे ७ राजू है और घटते-घटते बीचमें एक राजू है और ऊपरके आधेमें बढ़ते-बढ़ते ५ राजू है, फिर घटकर एक राजू है। अगर पीछेकी ओर देखा जाय तो सब जगह सात-सात राजू है। जैसे कि ७ बालक खड़े हैं तो पीछे सब जगह सात-सात हैं सिर्फ यहीं सामने एक ओर इतना विभिन्न है—उसमें मध्यलोकके नीचे ७ पृथ्वियोंकी रचना है, जिसमें पहली पृथ्वीमें अन्दर-अन्दर ऊपर के दो खण्डोंमें भवनवासी और व्यन्तरोंके बहुत रत्नोंके महल हैं, जिसमें चैत्यालय भी है उसके नीचेके खंडमें पहला नरक फिर नीचे ६ पृथ्वियोंमें दूसरे तीसरे आदिक ७ नरक तक हैं। इस मध्यलोकमें असंख्याते द्वीप समुद्रकी रचना है और उससे अतिरिक्त बहुत फैला हुआ है और ऊपर स्वर्गोंकी रचना फिर अहिमिन्द्र, फिर सिद्धशिला उसके ऊपर लोकके अंतमें सिद्ध भगवान विराजे हैं। इस लोकसम्बंधी सब विवरण इस पूर्वमें है। कितनी जगह है, यह जीव कहाँ कहाँ अनंत बार पैदा हुआ है। सभी जगह पैदा हुआ है। कहांसे मरकर कहाँ जाता है और किस तरह जाता है, यों सभी तरहकी रचनाओंका विवरण इस त्रिलोक बिन्दुसारमें है।

(५७) **त्रिलोकबिन्दुसार पूर्वमें बीजगणित, मोक्षस्वरूप व मोक्षहेतुभूत दृष्टि व क्रियावोंका वर्णन तथा बारहवें पूर्वकी पदगणना व समस्त पूर्वोंकी पदगणनाका संनिर्देश**—त्रिलोकबिन्दुसार पूर्वमें बीजगणितका भी स्वरूप बताया गया है। ऐसा गणित जो बीजरूप है, जैसे कि पहले हिसाबके गुर हुआ करते थे, ऐसे ऊँचे-ऊँचे गणितके इसमें बीज दिए गए हैं। मोक्षका स्वरूप, मोक्षके कारणभूत क्रियावोंका स्वरूप इस १४वें पूर्वमें है। मोक्ष मायने क्या? छुटकारा। किससे छुटकारा? कर्मोंसे छुटकारा, देहसे छुटकारा। जीव एक परमार्थ सत् है, वास्तविक पदार्थ है इसके साथ कर्म और शरीरका जो बंधन लगा है उससे यह संसार में रुलता है, कर्म और संसारका बंधन छूट गया तो क्या जीव अकेला रह गया? अकेला रह जाने कोमोक्ष कहते हैं, इतना अकेला रह गया कि उसके साथ देह भी नहीं, कर्म भी नहीं, और जब कर्म नहीं है तो कर्मका निमित्त पाकर जो विकार हुआ करते हैं वे विकार भी कहाँ से हैं? तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म, इन तीनों प्रकारके कर्मोंसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष बोलते हैं। द्रव्यकर्म मायने ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म, भावकर्म मायने जीवमें विकार मोह रागद्वेष सुख दुःख विकल्प विचार ये सब भावकर्म हैं। नोकर्म मायने शरीर, इन सबसे छूट गया, केवल अकेला रह गया। तो केवल अकेला रह जानेका नाम मोक्ष है, पर ऐसा मोक्ष पानेका मूल उपाय, सही उपाय इस समय भी ऐसा ही अकेला स्वरूप है उस स्वरूपको देखें, जो अपनेको यहाँ अकेला देख सकेगा वह अकेला बन जायगा और यहाँ दूसरोंमें मिला

Version 1

हुआ देखेगा तो वह मिला हुआ ही रहेगा। इस कारण उपाधिरहित, विकाररहित अपनी ही सत्तासे स्वयं सिद्ध मात्र चैतन्यस्वरूपमें यह मैं हूं, ऐसा अनुभव करना। तो जो यहाँ भी एकत्वस्वरूपको देखता है वह अकेला हो जाता है याने मुक्त हो जाता है। समयसारमें इसी एकत्वका वर्णन है जिस एकत्वकी दृष्टि पाये बिना इस जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। तो इस त्रिलोक बिन्दुसारमें मोक्षका और मोक्षके कारणोंका वर्णन है। मोक्षकी साधना करने वाले मुनि जन, भव्यजन जीवनमें किस-किस ढंगसे रहें, क्या-क्या साधना बनायें कि उनको रत्नत्रयमें बाधा न आये, रत्नत्रयकी पूर्णता बने, ऐसी साधनाका भी वर्णन है। इस पूर्वके १२ करोड़ ५० लाख पद हैं, ऐसे इस १२वें अंगका जो पूर्वगत नामका चौथा अधिकार है उस सबके मूल १४ पूर्वोंका, पदोंका जोड़ ९५ करोड़ ५० लाख है।

(५८) **द्वादशाङ्गमें वर्णित विषय व पदगणनाके बोधका प्रभाव**—यहाँ ११ अंग १४ पूर्व आदिका वर्णन चल रहा। पूजामें तो सब लोग पढ़ लेते हैं द्वादशांग, १२ अंग, जिनकी धुन है ओंकार रूप। यह आगम शास्त्र १२ अंगोंमें है, वे बारह अंग क्या क्या कहलाते ? पढ़ तो गए थे १२ अंग, पर उनका पता नहीं है। वे १२ अङ्ग ये हैं कि जिनमें सर्व प्रकारका वर्णन चल रहा। किसी भी एक बातको समझनेके लिए अनेक बातोंका परिचय करना होता है। कोई यह सोचे कि मुझे तो सिर्फ जीवका सहजस्वरूप समझना है, हमें अन्य किसीका ज्ञान करनेसे मतलब नहीं, तो ऐसेमें जीवका स्वरूप समझमें न आयगा। स्वरूप समझनेके लिए बहुत विशाल ज्ञान करना होता है तब उसमें से सारभूत तत्त्वका सही परिचय बनता है। तो ये १२ अङ्ग क्या हैं, इनमें क्या वर्णन है, जब यह जानते हैं तो ज्ञानकी महिमा अपनेको विदित होती है, ऐसा ऐसा विशाल ज्ञान है, और वह ज्ञान कोई अलग बात नहीं है। मेरा ही जो ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपका ही विकास है। अपना माहात्म्य ज्ञात होता है नाना प्रकारके ज्ञानोंसे। इस ही ज्ञानमें यह महिमा है और ये सब कुछ महिमा नहीं। इसका ज्ञान विशुद्ध होवे तो केवलज्ञान होता है। जिसमें तीनों लोकका, तीनों कालके सब पदार्थोंका स्पष्ट ज्ञान होता है और वह भी क्रमसे नहीं, किन्तु एक साथ ज्ञान होता है। तो वह द्वादशांगोमें दृष्टिवाद अङ्ग नामके १२वें अङ्गका चार अधिकारोंका वर्णन हुआ।

(५९) **बारहवें अंगके अन्तिम विभाग चूलिकाके प्रथम भेद जलगता चूलिकाके विषय व पदगणनाका निर्देश**—अब दृष्टिवादका ५ वां अधिकार है चूलिका। चूलिकाके ५ भेद हैं—(१) जलगता, (२) स्थलगता, (३) मायागता, (४) रूपगता, (५) आकाशगता। इस जलगता चूलिकामें जलमें कैसे प्रवेश करना, जलमें कैसे तैरना, कैसे डूबना, जलको कैसे रोकना, जलका बांध कैसे बांधना, यह सब वर्णन है। सुननेमें ऐसा लग रहा होगा कि जैन

शासनमें इसके वर्णनकी क्या आवश्यकता थी ? तो भाई जब द्वादशाङ्ग शास्त्र है। श्रुतज्ञान है तो श्रुतज्ञानके द्वारा जो जो बात जानी जा सकती है वह सब वर्णन आता है। वैज्ञानिक प्रयोग ये सब द्वादशांगके अन्दर आये और हमने सुना है ऐसा कि बहुत पहले समयमें हिन्दुस्तानसे प्राचीन जैन शास्त्र गए हैं जिनमें अनेक क्रियावोंका वर्णन था और उससे उनको विज्ञानके विकासमें मदद मिली है। तो जलगता चूलिकामें जलका स्तम्भन करना, जलमें गमन करना, अग्निमें प्रवेश करना, अग्नि जल रही है इसमेंसे निकल रहे हैं। कितनी ही औषधियाँ तो यहाँ भी हैं कि हाथमें लगा लो तो गरम-गरम लोहेकी जंजीरोंको भी छूने पर उसका कुछ असर हाथमें नहीं होता। तमाशा दिखाने वाले लोग अक्सर करके दशहराके दिनोंमें इस प्रकारके दृश्य अनेकों जगह दिखाया करते हैं। सांकलको हाथसे छू रहे हैं और उसपर हाथ चला रहे हैं, पर हाथ नहीं चलता। हाथपर कोई औषधि ऐसी लगा लेते हैं कि हाथ नहीं जलता। तो जल और अग्नि संबंधी सब कलाओंका वर्णन इस जलगता चूलिकामें है ? अग्निका भक्षण कर लें और मंत्र तंत्र आदिकके द्वारा भी इन सब कार्योंको कर लें, यह सब वर्णन इस पहली चूलिकामें है। इसके पद हैं—दो करोड़, ९ लाख, ८९ हजार २०० ।

(६०) **स्थलगता व रूपगता चूलिकाके विषय व पदगणनाका निर्देश**—दूसरी चूलिका है स्थलगता—जमीन पर चलना। चल रहे हैं जमीन पर और आड़े पर्वत आ गया तो उस पर्वतके भीतरसे भी निकल जाय, यह भी एक कला है। और इसका वर्णन इस चूलिकामें किया गया है। ऋद्धिसे बने, मंत्रसे बने, इन सब कलाओंका वर्णन स्थलगतामें है। पहाड़के दूसरी तरफ जाना हो तो कहो १०–१२ मील घूम कर जाय और सीधा कोई एक मील हो है, पर प्रवेश तो नहीं कर सकता कोई। तो स्थलगता चूलिकामें पर्वत आदिक में प्रवेश करनेकी क्रियावोंका वर्णन है। ये क्रियायें बनी हैं मंत्र तंत्र तपश्चरणके द्वारा। तो इन मंत्र तंत्र तपश्चरणका वर्णन इस स्थलगता चूलिकामें है। इसके भी पद २ करोड़, ९ लाख, ८९ हजार २०० हैं। सभी चूलिकाओंके पद एक समान हैं। तीसरी चूलिका है मायागता—इसमें मायामयी इन्द्रजाल और विक्रिया कैसे कर सके, ऐके मंत्र तंत्र तपश्चरणका वर्णन है। छोटे शरीरको बड़ा बना ले, बड़ेको छोटा बना ले, छोटेको वजनदार बना ले, ये सब कलायें हैं। देखिये—जब प्रद्युम्न कुमार (श्रीकृष्णके लड़के) हरे गए थे और दूसरी जगह जाकर अनेक प्रकारकी कलायें सीखीं। और बहुत बड़ी अवस्था होनेपर उन्हें अपने माता-पिता से मिलनेका विचार हुआ तो वे आये तो यों ही सीधे मिलने नहीं आये। बड़े पुरुषोंमें कोई कलाकी बात, अद्भुत बात देखनेको मिला करती है। वे ऐसे नहीं आये कि चलो पत्र डाल दिया कि हम हरे गए थे, यहाँ अच्छी तरहसे रह रहे हैं, हम अमुक दिन आ रहे हैं····यों

बात नहीं होती। वे अपने आनेका भी समय नहीं बताते, किन्तु उनकी करामातसे ही लोग जान जाते कि आ रहे हैं। तो प्रद्युम्न कुमार अपनी किसी कलाके बलसे पहुंचे उस नगरीमें, और वहाँ पहुंचकर जो राजदरबारका बहुत बड़ा फाटक था उसके आगे पड़ गए। लोगोंके आने जानेका रास्ता रुक गया। वहाँ बहुतसे लोगोंने उन्हें उठानेकी बहुत कोशिश की, पर वे किसीके हिलाये न हिले। ऐसी ही और भी अनेक अद्भुत बातें दिखायीं, उसके बाद अपना रूप प्रकट किया, और किसी अवधिज्ञानी मुनिने बता भी दिया था कि जिस दिन ऐसा अतिशय होगा, ऐसा चमत्कार देखनेको मिलेगा उस दिन समझना कि प्रद्युम्न कुमार आ गया। तो ऐसी अनेक मायामयी विद्याओंका वर्णन इस मायागत चूलिकामें है। इसके भी पद २ करोड़ ९ लाख ८९ हजार २०० हैं।

(६१) **रूपगता कुलिकाके विषय व पदगणनाका निर्देश**—चौथी है रूपगता चूलिका, इसमें रूप विक्रियाका वर्णन है। पुरुष अपना रूप पलट दे, हाथी, घोड़ा, बैल आदिक अनेक प्रकारके रूप पलट लेवे, उसकी साधनाका वर्णन है उन मंत्र तंत्र तपश्चरणका। एक ब्रह्मगुलाल मुनि हुए हैं। उनके संबंधमें बताया जाता है कि वे रूपके बदलनेमें याने बहुरूपियाका काम करनेमें बहुत कुशल थे। उनकी इस कलाको देखकर मंत्री लोग जलने लगे थे। तो उन मंत्रियोंने एक ऐसा उपाय रचा कि राजाके द्वारा इस बहुरूपियाको प्राणदण्ड दिलवा दिया जाय। तो राजाके पास मंत्री लोग जाकर बोले राजन्! इस बहुरूपियासे कहो कि इस बार सिंहका रूप धरकर आये। तो उस रूपमें वही तो दिखाना चाहिए जिसका रूप है ?—जब वह सिंह गरजता हुआ आया तो राजाके लड़केने उससे मजाक कर दिया—वह देखो कुत्ता आ गया। वहाँ ब्रह्मगुलालने चूंकि अपने भाव सिंहके जैसे बना रखा था, तो राजकुमारके मुखसे अपमान भारी बात सुनकर क्रोधित हो उठा और अपने पंजोंसे राजकुमारका पेट फाड़कर उसकी हत्या कर दिया। अब राजा भी उसका क्या कर सके, आखिर सिंहका रूप रखनेका आदेश दे चुका था खैर इस घटनाके बाद मंत्रियोंने राजाको सलाह दिया कि इस बार आप उस बहुरूपियाको मुनि बनकर आनेका आदेश दें। राजाने वैसा ही किया। जब ब्रह्मगुलालको मुनि बनकर आनेका आदेश मिला राजासे तो ब्रह्मगुलाल बोले—महाराज, मुनिका रूप रखनेके लिए हमें दो तीन महीनेका समय दीजिए। तो राजाने कहा—ठीक है, दो तीन माहका समय दिया जाता है आखिर ब्रह्मगुलालने दो तीन माह तक एकान्तमें रहकर धर्मकी साधना करके पूरा अभ्यास करके मुनिका रूप रख लिया और राज दरबारमें पहुंचे। उस समय ब्रह्मगुलाल मुनिका रूप दर्शनीय था, आखिर सही मुनि बनकर आये थे। वहाँ राजाने, मंत्रियोंने तथा सभीने देखा और सभी धन्य-धन्य कह उठे, पर ब्रह्मगुलाल मुनि बिना

ही किसीसे बोले विरक्त होकर जंगलके लिए चल पड़े। सभीने बहुत समझाया—अरे विरक्त होकर जंगल मत जावो, आखिर वह रूप ही तो था, चलो अपने घर चलो…। तो वहाँ ब्रह्मगुलाल मुनि बोले—भाई मुनिका रूप ऐसा नहीं हुआ करता कि उसे ग्रहण करके फिर छोड़े। तो इसमें अनेक रूपोंका, चित्रामका, काष्ठलेपका, धातु रसायनका निरूपण है। इसमें भी २ करोड़ ६ लाख ८६ हजार २०० पद हैं।

(६२) **आकाशगता चूलिकाके विषय व पदगणनाका निर्देश**—सूत्रपाहुड ग्रन्थमें आगम क्या है, कितना है, उसमें क्या-क्या विषय है यह वर्णन चल रहा है। तो समस्त आगम द्वादशांग और अंग बाह्य इन दो में विभक्त है। विभक्त यों हो गया कि जितने समस्त आगममें पद हैं, अक्षर हैं उन अक्षरोंमें मध्यम पद विभक्त किये गये तो पद पूरे जितने हुए वे तो आ गए द्वादशांगमें और उनसे जो अक्षर बचे जिनका एक पद पूरा न हो सका वह आया है अंग बाह्यमें। तो अंग बाह्यका जब वर्णन होगा और उनका विषय बताया जायगा तो यह विदित होगा कि इतना अधिक विषय है समस्त अंग बाह्यमें और फिर भी मिलकर एक पद नहीं है, उससे पदके प्रमाणका अनुमान होगा। तो प्रकरणमें चूलिकाका वर्णन चल रहा, जिसमें जलगता, स्थलगता, मायागता और रूपगता, इन चार चूलिकाओंका वर्णन हो चुका। अब ५वीं चूलिका है आकाशगता। आकाशमें कैसे गमन किया जाता, गमन करनेकी सिद्धि कैसे हो, उसके कारणभूत मंत्र यंत्र तंत्र आदिकका वर्णन है। मंत्र कहलाता है अक्षर वाला जाप, यंत्र होता है उसका कोई आकार बनाना और आकारमें अक्षर विन्यास करना और तंत्र कहलाता है कोई टोटका या चेटक आदिक। जैसे कोई पुरुष बीमार है और कोई मंत्र यंत्र तंत्रकी भी औषधि करे तो मंत्र बुलवाना मायने कोई मंत्र बोलता है, झाड़ता है, ऐसा रिवाज अब भी है। यंत्र कहलाया कोई कागज, भोजपत्र वगैरहमें रखकर उसे धागेसे बाँध देना और तंत्र कहलाया उसका कोई टोटका करना। जैसे रात्रिको सड़कपर दीपक या कोई चीज रख दे, (यह लोग बतला रहे हैं) पर यहाँ तो आकाशगमन कर सके उसकी सिद्धिके लिए यंत्र मंत्र तंत्र बताये गए हैं। इसमें भी २ करोड़ ६ लाख, ८६ हजार २०० पद हैं। इस प्रकार १२वाँ अंग पूर्ण हुआ।

(६३) **द्वादशाङ्गमें से निकले हुए आजके उपलब्ध आगमका परिमाण**—इस १२ वें अंगके बीच यह बात जानना कि जो १२वें अंगमें पूर्व बताये गये उत्पाद पूर्व आदिक जिनमें सबसे अधिक पद हैं उन पूर्वोंमें प्रत्येकमें १०-१० वस्तु हैं। याने महाधिकार, और उन वस्तुवोंमें प्रत्येक वस्तुमें २०-२० प्राभृत हैं, जिनमें दूसरे पूर्वमें अग्रायणी पूर्वमें १४ भूमिकायें हैं उनके नाम हैं—पूर्वांत, अपरांत, ध्रौव्य, अध्रौव्य, धवल, लब्धि, अध्रुव, सम्प्र-

णिधि, भौम, सर्वार्थ, कल्पनीय आदिक उनमें से जो ५वीं वस्तु है उसके २० प्राभृत हैं। तो उन प्राभृतोंमें जो चौथा प्राभृत है उसके २४ अनुयोग द्वार हैं। उन २४ अनुयोग द्वारोंमें षट्-षंडागमकी रचना हुई, जिसकी टीका धवल कहते हैं। वह तो है षट्षंडागमकी टीका, मगर इतने बड़े विस्तार वाला जो आज साहित्य पाया जा रहा वह एक पूर्वकी एक वस्तुमें से एक प्राभृतकी कुछ अनुयोग मात्र है, तब द्वादशांग समझो कितना बड़ा है, उसके अनुयोग कौन-कौनसे हैं ? कृति, वेदना, स्पर्शन, कर्मप्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, अनुपक्रम, अभ्युदय, मोक्ष, संक्रमण, लेश्या, लेश्या कर्मपरिणाम, साता असाता, दीर्घ, ह्रस्व, भवधारणा, पुरुपुद्गल, निधत्ति, अनिधत्ति, सनिकाचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिम स्कंध, अल्पबहुत्व, इसीमें से कुछ वर्णन आजके करणानुयोग साहित्यमें पाया जाता है। तो इतना विशाल श्रुतज्ञान है।

(६४) **श्रुतज्ञानकी विशालताका निर्देशन**—न्यायशास्त्रमें यह बताया है कि श्रुतज्ञान और केवल ज्ञान दोनों बराबरके ज्ञान हैं। केवलज्ञानसे कम श्रुत ज्ञान नहीं, पर फर्क यह हो गया कि केवल ज्ञान साक्षात् जानता है और श्रुत ज्ञान असाक्षात् जानता जैसे किसीने कोई तीर्थ क्षेत्र नहीं देखा मगर उस तीर्थ क्षेत्रकी पुस्तक मिल गई, उस पुस्तक को बाँचकर सब बातें उसने जान लीं। इस स्टेशनसे उतरते हैं, इस तरफको सड़क गई है, इतनी चौड़ी सड़क है। इतनी दूर धर्मशाला है, वहाँ इतने कमरे हैं। मान लो उस तीर्थ क्षेत्रका फोटो भी बहुत स्पष्ट रूपसे दिया हुआ हो जिससे कि उस तीर्थ क्षेत्रका सब कुछ कोठियाँ, आफिस, मंदिर आदि सब जान लिया, मूर्तियाँ भी जान लीं। जिसमें खूब पूरा वर्णन हो ऐसी पुस्तकको पढ़कर तीर्थका हाल जान लिया और एक मनुष्य वहाँ ही जाकर प्रत्यक्ष रूपसे देख आवे तो जाननेमें वे दोनों बराबर हैं, पर एकने साक्षात् जाना और एकने पुस्तकसे जाना। तो स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दोनों समस्त तत्त्वोंको बताने वाले हैं, फर्क साक्षात्कार और असाक्षात्कारका है। जो तत्त्व इसमें न आया हो, समझो वह तत्त्व है ही नहीं, याने सब कुछ इसमें आ गया है। तो ऐसा विशाल श्रुत ज्ञान जो पदके रूपमें है वह १२ अंगोंमें है।

(६५) **अङ्गबाह्यमें सामायिक प्रकीर्णकका विषय**—अब पदोंसे बचे हुए जिनका कि एक पद नहीं बना उन अंग बाह्योंका वर्णन करते हैं। अंग बाह्य श्रुतके १४ प्रकीर्णक हैं, जिनमें पहला प्रकीर्णक है सामायिक। सामायिकका वर्णन ६ प्रकारसे और कई प्रकारोंसे है। सामायिक ६ प्रकारके होते हैं—(१) नामसामायिक (२) स्थापनासामायिक (३) द्रव्यसामायिक (४) क्षेत्रसामायिक (५) काल सामायिक और (६) भावसामायिक। नाम सामायिक नाममें शब्दमें रागद्वेष न लाना, अथवा यह सामायिक है इस तरहका नाम होना यह नाम

सामायिक है । शब्दोंमें नाममें इसके समता रहती है । स्थापना सामायिक—यह सामायिक है, ऐसी स्थापना होना अथवा स्थापित जो वस्तुवें हैं, जिनमें स्थापना कर रखी है उनमें रागद्वेष न होना स्थापना सामायिक है । जैसे बहुतसे देवोंकी स्थापना होती है—कुदेवकी, देवकी तो निर्णयकी बात और है, और जो छोटी पदवी है उसमें यह खोटा, यह अच्छा, ऐसा भाव भी होता है, पर कुछ रागद्वेष नहीं, समता परिणाम है, ऐसे भावको स्थापनासामायिक कहते हैं । इसमें कहीं यह नहीं है कि उन सबका एकसा विनय करनेका भाव हो, वह तो मिथ्यात्व है, मगर स्थापित वस्तुओंमें उसे रागद्वेष नहीं जगता, इतना उसके शुद्ध ध्यान बन रहा है । द्रव्यसामायिक—सामायिक करेंगे उससे पहलेकी जो तैयारी है उसे भी द्रव्यसामायिक कहते हैं । द्रव्य जगतमें कितने हैं, उन सब द्रव्योंके बारेमें रागद्वेष न होना यह द्रव्यसामायिक है । जिन पुरुषोंकी आदत किसी भी पुद्गलसे अधिक घृणा करनेकी है और किन्हीं सुहावने, सुगंधित पदार्थोंमें शौक करनेकी है तो कहीं अत्यन्त घृणा और कहीं अत्यन्त राग, इस प्रकारकी जिनकी प्रकृति है उनके समता परिणाम मुश्किल से आता है । थोड़ा हो वह कमजोरी है मगर उसका ज्ञाता ही रहे, यह वस्तु ऐसी हो गंदी होती है । तो ऐसे द्रव्योंमें समता परिणाम होना द्रव्यसामायिक है । क्षेत्रसामायिक—क्षेत्रका एक निश्चय बनाकर उतने ही क्षेत्रमें रहूंगा, आगे न जाऊँगा, और कोईसा भी क्षेत्र हो, स्थान हो, साधारण असाधारण, उन सब क्षेत्रोंमें समताभाव होना, वह क्षेत्र सामायिक है । प्रसिद्धि है कि अमुक पर्वतसे, अमुक क्षेत्रसे बहुत मुनि मोक्ष गए हैं इस कारण वह क्षेत्र पवित्र है, मगर यह भी तो सोचो कि जहाँ आप बैठे हैं यहांसे भी अनन्ते मुनि मोक्ष गए या नहीं ? ढाई द्वीपके अन्दर प्रत्येक स्थानसे अनन्त सिद्ध हुए । जहाँ आपकी रसोई बनती हो, गुसलखाना हो, बैठक हो, कोईसी भी जगह हो, सभी सिद्ध क्षेत्र हैं । मगर जो स्थान कुछ विशिष्ट है और आजकल भी ध्यान करनेके लायक हैं और जहाँ जाकर कुछ वातावरण विरक्तिका अधिक मिलता है वहाँसे मोक्ष अधिक गए हैं । और ऐसे स्थानमें अपने ध्यानकी भावना जगती है, इसलिए वे क्षेत्र अधिक प्रसिद्ध हुए । तो सभी प्रकारके भूमि स्थानोंमें इसको रागद्वेष न हो वह क्षेत्रसामायिक है । कालसामायिक—समयपर सामायिक हो और अन्य समयों में कालके प्रति समता, वर्षाऋतु, शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु इन सब कालोंमें जो सुहावना, असुहावना मानते हैं वह सामायिकके खिलाफ बात है, कोईसा भी समय हो सबमें समता परिणाम रहना, रागद्वेष न जगना । जब तेज गर्मी पड़ती है तो इस गर्मीके प्रति एक मनमें घृणा सी होती है कि यह गर्मी सबसे बुरी चीज है । ऐसा भाव कालसामायिक वालेके नहीं हुआ करता । जो है सो जान रहे हैं, वहाँ रागद्वेष नहीं । भावसामायिक—अनेक प्रकारके भाव

Version 1

कर्मोदयसे जगते हैं, उन परभावोंका ज्ञाता द्रष्टा रहना, उनमें रागद्वेष न जगना, सुखके साधन मिलें, दुःखके साधन मिलें और उससे साता असाताका परिणाम जगे तो उनसे निराले अपने अविकार ज्ञानस्वरूपको ही देखना, उनमें सुहावना असुहावनाकी बात न आना, यह भाव-सामायिक है ः तो इस प्रकार सामायिकके बारेमें विशेष वर्णन है इस प्रकीर्णकमें।

(६६) अङ्गबाह्यमें चतुर्विशतिस्तव व वन्दना नामक प्रकीर्णकका विषय—दूसरा प्रकीर्णक है चतुर्विशतिस्तव, अर्थात् २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति करना, इसमें २४ तीर्थंकरोंके नामसे यह प्रकीर्णक क्यों बना कि प्रत्येक चतुर्थ कालमें भरत और ऐरावत क्षेत्रमें २४-२४ तीर्थंकर होते हैं। अबसे पहले अनन्ते २४ तीर्थंकर हो चुके, क्योंकि चतुर्थ काल अनन्ते बीत चुके। और बीतेंगे, तो तीर्थंकर चूंकि मार्गदर्शक हैं इसलिए भक्तिमें उनका प्रधानतासे नाम होता है। उनकी भक्ति की जाती है। तो इसमें २४ तीर्थंकरोंके गुण महिमा विधि आदिक का वर्णन है। तीसरा प्रकीर्णक है वंदना। वंदना और स्तवनमें कोई अधिक अन्तर नहीं है। स्तवन करे तो वहाँ भी वंदना की जाती है। बंदना करे तो वहाँ भी स्तुति की जाती है। स्तुतिमें गुणानुवादका अधिक प्रकरण होता है और बंदन समय समयपर होता। बंदना और नमस्कारकी मुख्यता है, पर भीतरमें यह भला है, कल्याणमय है, ऐसा भाव रहता है। अन्तर्जल्पसे स्तवन चलता है तो विषयमें अधिक फर्क नहीं, किन्तु २४ तीर्थंकरोंको सम्मिलित स्तवन वंदन तो स्तवन कहलाता है और एक-एकका नाम लेकर मैं इनकी बंदना करता हूं, अमुक तीर्थंकरकी बंदना करता हूं इस तरह अलग-अलग वंदना करना इसे कहते हैं बंदना। किसी एक तीर्थंकरके आश्रय बंदना चल रही है।

(६७) अङ्गबाह्यमें प्रतिक्रमण व वैनयिक प्रकीर्णकका विषय—चौथा प्रकीर्णक है प्रतिक्रमण। इसमें ७ प्रकारके प्रतिक्रमणोंका वर्णन है। रात्रिमें कोई दोष लगा, उसका प्रतिक्रमण करे याने प्रायश्चित्त ले, शुद्धि करे, दिनमें दोष करे उसका प्रतिक्रमण करे, १५ दिनमें फिर प्रतिक्रमण करे, रोज-रोज प्रतिक्रमण करके भी प्रत्येक १५वें दिनमें सामूहिक प्रतिक्रमण करे पंद्रहों दिनका। फिर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, चार-चार माहका प्रतिक्रमण, फिर वार्षिक प्रतिक्रमण, वर्षायोग प्रतिक्रमण। चातुर्मासमें बैठे उठे वह प्रतिक्रमण, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। जब अन्तिम समय हो, मरणकाल हो तो सारी जिन्दगीके दोषोंकी शुद्धि पुनः करे। और वह प्रतिक्रमण किस विधिसे किया जाय, उन विधियोंका वर्णन इसमें है। ५वाँ प्रकीर्णक है वैनयिक—इसमें ५ प्रकारके विनयोंका वर्णन है। सम्यग्दृष्टिका विनय, सम्यग्ज्ञानीका विनय, सम्यक्चारित्रवानका विनय, तपस्वियोंका विनय और उपचार विनय, इन गुणोंका भी विनय। तो गुणोंके प्रति अपना झुकाव होना यह विनयमें उद्देश्य होता है, तो इस विनयका वर्णन इस प्रकीर्णकमें है।

(६८) अङ्गबाह्यमें कृतिकर्म, दशवैकालिक व उत्तराध्ययन प्रकीर्णकका विषय— छठा प्रकीर्णक है कृतिकर्म । इसमें कर्तव्यका वर्णन हैं, बंदना करना, प्रतिक्रमण करना, अरहंत आदिककी भक्ति करना, स्वाध्याय करना आदिक जो जो भी क्रियायें हैं उन क्रियावोंका वर्णन कृतिकर्ममें है । अष्टान्हिकामें कौनसी भक्ति करें, स्वाध्यायके समय कौनसी भक्ति करें, दीक्षाके समय कौनसी भक्ति की जाय, ऐसे प्रत्येक अवसरपर कब कौनसी भक्ति क्रिया की जाती है, उसका वर्णन है । ७वां प्रकीर्णक है दशवैकालिक । इसमें मुनियोंका आचरण, आहार शुद्धि, किस तरहसे आहार होना, यह सब वर्णन है । ८वां प्रकीर्णक है उत्तराध्ययन । इसमें परीषह उपसर्ग सहनेका विधान बताया गया है । वे भाव भी दर्शाये गए हैं कि परीषह उपसर्ग आयें तो किस तरहकी भावना अन्दरमें करें कि उस उपद्रवमें उसके प्रति रागद्वेष न जगें । तो परीषह और उपसर्गोंके सहनेका विधान इस ८वें प्रकीर्णकमें है ।

(६९) अङ्गबाह्यमें कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्यव्यवहार व महाकल्प प्रकीर्णकका विषय— ९ वां प्रकीर्णक है कल्पव्यवहार । इसमें यह बताया गया है कि मुनियोंको कौन सा काम करना योग्य है और कौन सा अयोग्य है । योग्य आचरण करनेका और अयोग्य आचरणके त्यागका इसमें विशेष वर्णन है । और कदाचित् अयोग्य पदार्थका सेवन हो जाय, अयोग्य काम बन जाय तो उसका प्रायश्चित्त बताया है कि किस तरह शुद्ध हो सकेगा । कोई पुरुष किसी व्रत नियमसे चिग जाय तो उसका यह परिणाम नहीं कि उसका पतन ही हो गया । प्रायश्चित्तसे शुद्धि हो सकती है । पर जिसको रोज रोज ही दोष लगानेकी आदत है उसपर प्रायश्चित्तका असर ही नहीं होता, इसलिए वह अनाचार कहलाता है । १० वां प्रकीर्णक है कल्पाकल्प । इसमें वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा योग्य अयोग्यका वर्णन है । कौन सा द्रव्य योग्य है कौन अयोग्य है, कौन सा क्षेत्र रहनेके योग्य है अथवा अयोग्य है आदिक वर्णन इस प्रकीर्णकमें है । ११ वां प्रकीर्णक है महाकल्प । जो मुनि हैं, जिनकल्पी हैं, एकाकी विहारी हैं उन मुनियोका प्रतिमायोग, रात्रिभर निश्चल खड़े रहना, वर्षायोग, शीतकायोग अनेक प्रकारके योगोंका प्ररूपण है । और, जो स्थविरकल्पी मुनियोंकी प्रवृत्ति है उसका वर्णन है । मुनि दो प्रकारके होते हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी । जिनकल्पी वे कहलाते जिनका बहुत ऊँचा संहनन है, बड़े ऊँचे ज्ञानी हैं, जिनका बड़ा ऊँचा अभ्यास है । जिनके बारेमें डिगनेकी कोई सम्भावना नहीं है । वे अकेले रहते हैं और निरन्तर आत्मध्यानमें रहते हैं वे जिनकल्पी मुनि कहलाते हैं । उनका विधान प्रतिमायोग त्रिकालयोग आदिक है । याने ऊँचा तपश्चरण । और स्थविर कल्पी मुनि वे कहलाते हैं जो अकेले विहार नहीं करते, संगमें रहते हैं और आचार्यके आदेशानुसार सब प्रवृत्तियां करते हैं । दोष लगे तो प्रायश्चित देते हैं.

Version 1

वे स्थविर कल्प हैं। तो इस प्रकीर्णकमें जिनकल्पीको क्या करना चाहिए, स्थविरकल्पीको क्या करना चाहिए, यह सब वर्णन है।

(७०) अङ्गबाह्यमें पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्धिका प्रकीर्णकका विषय—१२ वां प्रकीर्णक है पुंडरीक। इसमें यह वर्णन है कि वे कौनसे कारण हैं, कौनसे परिणाम हैं जिनसे यह जीव चार प्रकारके देवोंमें उत्पन्न होता है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनमें उत्पन्न होनेके योग्य क्रिया व साधनाका वर्णन है। १३ वां प्रकीर्णक है महापुण्डरीक इसमें यह बताया गया है कि जो बड़ी ऋद्धिके धारकदेव हैं, इन्द्र हैं उनमें उत्पन्न होनेके क्या परिणाम हैं, क्या कारण हैं, क्या साधन हैं, कैसी प्रवृत्ति हो, कैसा व्रत नियम हो, जिसके फलमें उत्कृष्ट देव होता है। १४ वां प्रकीर्णक है निषिद्धिका इस प्रकीर्णक में अनेक प्रायश्चित्तोंका वर्णन है, निषेधका याने त्यागका। दोषोंकी कैसे शुद्धि हो, उन सब उपायोंका वर्णन है। यह पूरा प्रायश्चित शास्त्र है। तो इस तरह ये १४ प्रकीर्णक हैं जो अंग बाह्य कहलाते हैं समस्त अंग बाह्यमें ८०१०८१७५ अक्षर है। जो अंग बाह्य कहलाते हैं।

(७१) श्रुतज्ञानकी अनेक श्रेणियां—द्वादशांग व अंगबाह्य श्रुतज्ञानका सम्पूर्ण रूप है। अगर किसीमें थोड़ा भी श्रुतज्ञान हो, अत्यन्त कम श्रुतज्ञान होता तो उनकी श्रेणियाँ बनायी गई हैं कि सबसे छोटा श्रुतज्ञान पर्याय श्रुतज्ञान कहलाता, जो कि अक्षरका अनन्तवाँ भाग श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रिय आदिकके भी श्रुतज्ञान होते हैं और श्रुतकेवलीके भी श्रुतज्ञान होते हैं, पर उनमें तो बड़ा अन्तर है। तो श्रुतज्ञानकी सबसे जघन्य श्रेणी पर्याय वाला श्रुतज्ञान कहलाता है। उससे अधिक अक्षरज्ञान, उससे अधिक पद, फिर संघात, फिर प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राकृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व ऐसे ये बढ़ते जाते हैं और चल करके यह पूर्ण श्रुतज्ञान, यह द्वादशांग और अंगबाह्य ये सब मिलकर इतने विशाल होते हैं। श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—(१) अक्षरात्मक, (२) अनक्षरात्मक। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक होता है, किन्तु इससे लोकव्यवहार व उपदेशादिकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें अपुनरुक्त अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के संख्यात भेद हैं जो कि एक ही प्रमाण हैं याने संख्या– १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ हैं। अंगप्रविष्ट याने द्वादशांगमें तथा अंगबाह्यमें सब अपुनरुक्त अक्षर एक ही प्रमाण हैं। पुनरुक्त अक्षरोंकी संख्याका कोई नियम नहीं कितने ही हो जावें। अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें सबसे कम क्षयोपशम वाला श्रुतज्ञान पर्यायज्ञान है यह सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके होता है। यह इतना छोटा ज्ञान है इसके आवरण पर्यायावरण प्रकृतिका इसपर प्रभाव नहीं होता, किन्तु त्वरित आगेके श्रुतज्ञानमें याने पर्यायसमास ज्ञानमें पर्यायावरणका प्रभाव है। यदि

पर्यायज्ञान भी न रहे तो जीव ज्ञानरहित हो जायगा सो होता नहीं। पर्यायज्ञानसे अनन्तगुणा पर्यायसमास ज्ञान है, इससे अनंतगुणा अक्षरवान है, इससे अनन्तगुणा अक्षरसमास ज्ञान है, इससे कई गुणा पदज्ञान है। इससे कई गुणा पदसमास ज्ञान है, इससे अधिक संघातज्ञान है, इससे अधिक संघातसमास ज्ञान है। इससे अधिक प्रतिपत्तिक ज्ञान है, इससे अधिक प्रतिपत्तिकसमास ज्ञान है, इससे अधिक अनुयोग ज्ञान है, इससे अधिक अनुयोगसमास ज्ञान है। इससे अधिक प्राकृतप्राकृत ज्ञान है, इससे अधिक प्राकृतप्राकृतसमास ज्ञान है। इससे अधिक प्राभृत ज्ञान है, इससे अधिक प्राभृतसमास ज्ञान है। इससे अधिक वस्तु श्रुतज्ञान है, इससे अधिक वस्तुसमास ज्ञान है। इससे अधिक पूर्व श्रुतज्ञान है, इससे अधिक पूर्वसमास श्रुतज्ञान है। इस प्रकार वृद्धि होते-होते समस्त आगमका श्रुतज्ञान होता है।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३ ॥

(७२) **आगम वचन मननसे भवोत्पादका विनाश**—जो पुरुष सूत्रके विषयमें जाननहार है याने आगमका ज्ञाता है वह पुरुष अपने संसारकी उत्पत्तिका नाश करता है। जैसे कि सूई अगर सूत्र रहित है, सूत्र कहते हैं डोराको तो सूई गिर जायगी, नष्ट हो जायगी, मिलेगी नहीं, और सूई अगर सूतमें लगी हुई है तो वह गिरती नहीं है, ऐसे ही जो मनुष्य सूत्रमें लगा हुआ है वह नष्ट नहीं होता। वह हमेशा अपने को अपनेमें देखता रहता है और जिस मनुष्यको सूत्रका ज्ञान नहीं, सूत्रमें पिरोया हुआ मनुष्य नहीं वह मनुष्य नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो आगमका जाननहार है वह तो संसारसे पार हो जाता है और जो आगमको नहीं जानता वह संसारमें रुलता रहता है। सूत्र कहते हैं उस वाक्य प्रबंधको जिसके द्वारा जीव अपने यथार्थ तत्त्वको ढूँढ़ सके। यदि यह आगम न होता तो आत्माका अपनेको कैसे पता पड़ता? आत्मा है खुद ही, मगर आगमके बोध बिना तो आत्माका पता नहीं पड़ सकता। बचपनमें सीखा, बादमें सीखा और अनुभव होनेपर जाना तो वह सब आगमकी देन है। जगतके जीवोंपर तीर्थंकर अरहंत भगवानका कितना बड़ा उपकार है। सत्य उपकार की जिसकी वाणीमें परम्परासे आये हुए आगमको जानकर यह जीव अनन्त दुःख मेट लेता है। अज्ञानमें अनन्त दुःख है, केवलज्ञान होनेपर अनन्त सुख है। तो अज्ञान रहने पर अनन्त दुःख है, कुछ लेन नहीं, देन नहीं, सारे पदार्थ निराले हैं, किसीका किसी से संबंध नहीं। सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए हैं। एक यह मिथ्याबुद्धि बना लिया कि ये मेरे कुछ हैं, जहाँ संबंध माना किसी भी चेतन और अचेतन पदार्थसे, बस वैसे ही इसको आकुलता होने लगती है। जिसको आकुलता न चाहिए। जन्म-मरणसे मुक्ति चाहिए उसका

सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि अपने सहज अविकार स्वरूपको पहिचान करे।

(७३) अपने सहज स्वरूपका अनुभव होनेपर आत्मशौर्यका अनुभव—जैसे कोई तुरन्तका जाया हुआ शेरका बच्चा गड़रियाके द्वारा पकड़ा गया, उसका पालन पोषण भेड़ बकरियोंके बीचमें हुआ। तो वह शेरका बच्चा अपनेको भी उन भेड़ बकरियों जैसा ही समझता रहा, जो चाहे जैसे चाहे उसके कान मरोड़ दे, उसे पीट दे। वह बेचारा बहुत दिनों तक अपनेको बड़ा दुःखी अनुभव करता रहा। एक दिन कहीं जंगलमें उसे अपनी ही जातिका शेर दिख गया, उसकी दहाड़को सुनकर उसे बोध हो गया कि अरे मैं तो इस शेरकी जाति का हूँ, मैं तो शेर हूँ। भेड़ बकरी नहीं, बस उसमें शूरता प्रकट हो गई और दहाड़ देकर, छलांग मारकर वहांसे निकल गया। उसे अब रोकने वाला कौन? ऐसे ही जब तक इस जीवको ऐसा मिथ्या श्रद्धान रहता है कि मैं तो संसारका एक प्राणी हूँ। मैं तो ऐसा ही साधारणसा मनुष्य हूं, मुझे तो ऐसा ही करना चाहिए। मैं ऐसा ही इनका सम्बन्धी हूं, तब तक यह बिडम्बनारूप बनता है और जैसे ही प्रभुका स्वरूप निरखा, अरहंतके गुण समझा, उसके साथ अपने गुण समझा तो उसमें एक शूरता प्रकट हुई कि ओह मैं क्या इन कल्पनाओंमें फस रहा हूं। बस उन कल्पनाओंसे वह मुक्त हो जाता है। है क्या? मोह करे तो अकेला, मोह न करे तो अकेला कोई मोह करने से दुकेला नहीं हो जाता। अब यह अकेला बन गया। यह तो स्वरूप ही है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् है, वह एक दूसरेका नहीं है। तो जब तक मिथ्याज्ञान रहता है तब तक जीव संसारमें रुलता है और इस मिथ्याज्ञानको नष्ट होनेका उपाय है आगमका बोध। कोई मौखिक समझा रहा तो वह भी तो आगमकी किरण है और कोई लिखा हुआ पढ़ रहा तो वह भी आगमकी किरण है। बोध बिना यह जीव इस तरह नष्ट हो जाता, पतित हो जाता जैसे कि डोरेके बिना रहने वाली सूई यदि डोरेसे गिर जाय तो फिर उसका पता नहीं पड़ता उसे बहुत-बहुत ढूंढ़ना पड़ता फिर भी मिलना मुश्किल हो जाता और यदि सूईं सूत्र सहित है तो उसका तुरन्त पता हो जाता कि यह है सूई। तो ऐसे ही जो सूत्र सहित पुरुष हे मायने आगमके ज्ञानमें रहने वाला पुरुष है तो वह आगमके द्वारा अपने आत्माको पकड़ लेगा। तो सूत्रका जानना कल्याण चाहने वाले पुरुषोंको अतीव आवश्यक है।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।
सच्चेयण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥४॥

(७४) ससूत्र पुरुषके आत्मदर्शन—पूर्व गाथामें सूई (सूची) का दृष्टान्त बताया है कि जैसे जो सूई सूत्र रहित है वह तो नष्ट हो जाती और सूत्र सहित है वह पकड़में आ जाती

इसी तरह जो पुरुष सूत्र सहित है सो तो नष्ट होता नहीं, ज्ञानमें रहता है, संसारमें मौजूद है यह जीव तो भी अगर सूत्र सहित है, आगमका सहारा लिए हुए है तो वह नष्ट नहीं होता, वह न दिखने पर भी अपने आपकी दृष्टिमें रहता है। परोक्ष रहो, सुसम्वेदन प्रत्यक्ष रहो। कोई कहे कि आत्माको आँखसे दिखा दो तो मानें तो भला बताओ उसे आँखोंसे दिखाया जा सकेगा क्या ? अरे वह तो एक चिन्तन द्वारा अपने ज्ञानबलसे ही अपने आपकी जानकारीमें आयेगा। गजब कितना हो रहा कि यह खुद है, खुद ही चेष्टायें कर रहा है, खुद ही तर्क कर रहा है और खुद खुदके ज्ञानमें नहीं आ रहा। सो जब एक इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करनेकी विधि बन रही है तब तक आत्माका प्रत्यक्ष स्पष्ट ज्ञान नहीं होता फिर भी आगमका कोई सहारा लेकर तके तो इसको आत्माका ज्ञान होता है और जब ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही बस रहा हो तब सुसम्वेदन प्रत्यक्षसे जाना जाता है, तो आत्माके परिचयमें मूल सहारा तो आगमज्ञानका है, इसलिए आगम विषयक बोध जरूर होना चाहिए।

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च: तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥५॥

(७५) **हेयोपादेयविधिसे सूत्रार्थ व सप्ततत्त्वके ज्ञाताके सदृष्टित्व**—सूत्रका अर्थ है, वह जिनेन्द्र देवका बताया है। अर्थकर्ता तो सर्वज्ञदेव हैं और शब्दोंमें गूँथकर जो बनाया गया उसे कहते हैं ग्रंथ। ग्रन्थकर्ता गणधरदेव हैं, सो आगममें जो जीवादिक तत्त्वोंका वर्णन है उसे इस प्रकार जानना चाहिए कि इसमें हेय क्या है और उपादेय क्या है। जैसे जीव और अजीव ये दो तो मूल तत्त्व हैं, इन्हींके आधार पर तो आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष बना। सो जीव और अजीव तो एक ज्ञेय पदार्थ है, जान लिया कि यह जीव है, यह अजीव है, और उसमें भी अगर उपादेय और हेय बुद्धि करनी है उसमें जो अपना अविकार चैतन्यस्वरूप है वह तो उपादेय है और इसमें चेतनाके अतिरिक्त जो भी भाव आते हैं वे सब हेय हैं। यह बात अपने आप तत्त्वमें आ जायगी, पर मूल बात यह श्रद्धामें लाना है कि अपना जो अविकार चैतन्यस्वरूप है वह ही दृष्टिमें रहे, उसका ही आलम्बन हो तो संसारसे पार हो सकते हैं। धर्मके नामपर लोग नाना प्रकारकी चेष्टायें करते हैं, पर उन चेष्टाओंमें धर्म नहीं मिलता। वे चेष्टायें एक बाह्य साधन हैं ताकि इसका मन ऐसा बन जाय कि उस वातावरणमें रहकर यह धर्म पा ले, पर वह स्वयं धर्म नहीं है। जितनी भी क्रियायें हैं और यहाँ तक कि पूजाकी क्रियायें, अन्य अन्य भी क्रियायें ये स्वयं साक्षात् धर्म नहीं हैं, मगर वह एक ऐसा सुन्दर वातावरण है, एक साधन है, द्रव्य सजाया, खड़े हुए, द्रव्य चढ़ा रहे, कुछ समय होगा कि उस बीचमें इस पुरुषका ज्ञान जगे और अपने अविकार चैतन्य स्वरूप पर दृष्टि दे, धर्म हो

Version 1

गया, इसीलिए तो यह व्यवहारधर्म कहलाता। धर्म तो अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि, उसका ही स्थिर होना यह है धर्म, पर इसके लिए जो साधन बने हैं वे व्यवहारधर्म कहलाते हैं तो जीव और अजीव ये दो तत्त्व तो मूल हैं और ये ज्ञेय तत्त्व हैं। इनका स्वरूप जान लें।

(७६) **कर्मविपाकोदय व प्रतिफलनरूप आस्रवतत्त्वकी विवेचना व हेयता**—आस्रव तत्त्व हेय है, बंध तत्त्व हेय है, आस्रव मायने जीवमें से विकार उखड़ना यह तो है भावास्रव और उस जीवमें जो भाव उखड़ते सो उस कालमें उसका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्मोंमें कर्मत्व आ जाना यह है द्रव्याश्रव। बातें दो जगह चलती हैं—कर्मोंमें और जीवमें। कर्ममें कर्मकी बात चलती है और जीवमें जीवकी बात चलती है। और जो बात कर्ममें चलती है वैसी ही बात जीवमें चलती है। जैसे दर्पणके आगे कुछ दूरी पर पीला कपड़ा रख दिया तो उस दर्पणमें पीला फोटो आ गया। अब वह पीलापन दो जगह है—कपड़े में और दर्पणमें। मगर कपड़ेमें तो कपड़ेकी पीलाई है और दर्पणमें दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। दर्पणमें पीलाई है ही नहीं। दर्पण तो स्वच्छ है, पर दर्पणमें स्वच्छताका विकार आया तो विकारके रूपमें पीलाई है। कहीं दर्पणमें पीला रंग नहीं है। पीला रंग तो उस कपड़ेमें है और यह पीलापन दर्पणमें फोटोके रूपसे है, प्रतिबिम्ब रूपसे है। स्वच्छताके विकार रूपसे है। तो दर्पणकी तरह तो है यह आत्मा और पीले लाल आदि कपड़ेकी तरह हैं वे पुद्गलकर्म। तो रागद्वेषका अनुभाग असलमें तो उस पुद्गलकर्ममें है। वे रागद्वेष जीव में नहीं हैं, पर जीवमें स्वच्छताका विकार इस ढंगसे है कि उसमें रागद्वेषका भाव बना।

(७७) **कर्मविपाक ओर जीवदशा**—अब देखिये मुख्य रागद्वेष तो जीवका ही माना जाता। कितने ही लोग तो यह बात सुनकर कुछ उछल जायेंगे कि कहीं रागद्वेष कर्ममें भी होते हैं क्या? जीवमें ही मान रहे बहुतसे लोग कि रागद्वेष तो जीवमें ही होते हैं, कर्ममें रागद्वेष कहां धरे? मगर रागद्वेष प्रकृति, रागद्वेष अनुभाग ये तो जीवमें नहीं जाते। जीवमें कर्म सागरोंसे बंधे पड़े हुए हैं। जिस समय वे कर्म बँधे थे उसी समय कर्मोंमें अनुभाग बन गया, प्रकृति बन गई थी और वह प्रकृति, वह अनुभाग वहाँ सत्तामें पड़ा है। जिस कालमें उदय हुआ मायने उसमेंसे अनुभाग खिल उठा सो अनुभाग तो फैला वह कर्ममें, मगर उसका सन्निधान पाकर चूँकि जीव उपयोगमय है सो उपयोगमें प्रतिफलन आ गया। अब सारी विडम्बना जीवको हुई। कर्म तो अचेतन हैं। उसका बिगाड़ क्या, पर जीवको एक विडम्बना बन गई। जैसे कोई दो आदमियोंका विवाद हो जाय, एक तो हो सज्जन बड़ा पुरुष और एक आ जाय दुष्ट पुरुष तो दुष्ट पुरुष सोचता कि मेरा क्या बिगाड़ है, इज्जत तो इसकी बिगड़ेगी? तो यों ही कर्ममें रागद्वेष उदित हुए सो उससे कर्मका क्या बिगाड़ है? बिगाड़

तो इस जीवका है और देखो इस जीवका ऐश्वर्य कि यह जीव इतना बिगड़ गया तो भी इसमें कैसा ऐश्वर्य पाया जा रहा कि वह रागद्वेषके रूपसे इस तरह चेत रहा है। अनुभव कर रहा है। तो जैसे मूलमें लाल पीला तो कपड़ा है, दर्पणमें तो फोटोके रूपसे आया है, ऐसे ही रागद्वेषादिक अनुभाग तो मूलमें द्रव्यकर्ममें है और जीवमें तो प्रतिफलनके रूपसे आया है। जीवमें आया तो है प्रतिफलनके रूपसे, मगर यह मुख्य बन गया, विडम्बना बन गई और इस जीवका बिगाड़ बन बैठा। तो जीवमें रागद्वेष आना सो जीवमें भावाश्रव है और पुद्गलकर्ममें कर्मपना आना जो कि बंधके समय आया करता है वह द्रव्याश्रव है। यह आश्रव हेय है, यह संसार, यह जन्म मरण जो कुछ भी विडम्बना चल रही है वह सब आश्रवके कारणसे चल रही है।

(७८) **बन्धतत्त्वकी हेयता**—आस्रव तत्त्व हेय है व बंधतत्त्व भी हेय है। बंधके मायने बँध जाना। जीवमें उसका संस्कार होना अथवा उस जातिके विभावोंका निरन्तर उदय चलना यह तो है जीवमें बंध और कर्मोंमें उस कर्मपनेका बँध जाना कि यह तुम्हारा करोड़ सागर तक ये कर्म इस जीवके साथ रहेंगे, उस कार्माणवर्गणामें कर्मपना रहेगा, यह द्रव्यबंध है। यह बंधतत्त्व भी हेय है। आश्रव और बंधके कारण यह जीव मद वाला हो रहा है।

(७९) **सम्वर तत्त्वकी उपादेयता**—आश्रव बंध हेय है और तब सम्वर निर्जरा उपादेय। कब तक उपादेय ? जब तक कि इसको मुक्ति प्राप्त नहीं। सम्वर तत्त्वको एक प्रवर्तन रूपमें नहीं देखा, किन्तु कर्मत्व न आना इस रूपमें ही देखा तो सम्वर तत्त्व तो अनन्तकाल तक रहेगा। सिद्ध होनेके बाद क्या कर्मपना आता है, पर आश्रवका प्रतिद्वन्द्व रूपसे देखा तो यह सम्वर तत्त्व संसार अवस्थामें चलता है ज्ञानीके। संवर मायने कर्मपना रुक जाना, पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओंमें कर्मपना न आ सके, यह है द्रव्य सम्वर और अपने आत्मामें यह अशुभभाव न आ सकना यह है भावसम्वर। यह सम्वर तत्त्व उपादेय है।

(८०) **निर्जरातत्त्वकी उपादेयताकी मीमांसा**—जब तक सम्वर तत्त्व नहीं प्राप्त होता तब तक मोक्षमार्ग नहीं मिलता, और जो संवरपूर्वक निर्जरा होती है वह मोक्षमार्गका निर्जरा तत्त्व है वह निर्जरा कथंचित् उपादेय है। सर्वथा उपादेय तो व्यवहारसे मोक्ष कहा और निश्चयसे अविकार निज चैतन्यस्वरूपमें निस्तरंग रम जाना। तो अपने आपका जो अविकार स्वरूप है वह सर्वथा उपादेय है। हर सम्भव प्रयत्नोंसे हमको अपने इस सहजस्वरूपकी ओर आना है। तो निर्जरा तत्त्व भी उपादेय हो गया, जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं वे झड़ रहे हैं, उनका कर्मत्व खत्म हो रहा है। पोद्गलिक कार्माणवर्गणायें कोई वस्तु हैं, जैसे कि आँखोंसे दिखने वाले ये पदार्थ कुछ वस्तु हैं। उनमें जब कर्मत्व आता है तो वहाँ भी व्यवस्था है अपने

Version 1

आप और जब झड़ते हैं तो वहाँकी भी व्यवस्था है। कैसे झड़ते हैं? वह एक मलका ढेर है, बहुत लम्बा विशाल कितने ही करोड़ सागरोंकी स्थितिका। तो पहले तो कुछ समयका कर्म उस स्थितिसे हट-हटकर उससे पहलेकी स्थितिमें आता है फिर वे अगले-अगले कर्म हट-हटकर पहले स्थितिमें आते रहते हैं और ऐसी ही सारी स्थितिके कर्म हटकर कुछ पहली स्थितिमें हटकर आते हैं, फिर अपनी स्थिति पाकर कर्म दूर हो जाते हैं। तो निर्जरा तत्त्व भी इस जीवके लिए उपादेय तत्त्व है, पर सर्वथा उपादेय यों नहीं कि यह दृष्टि और लक्ष्यका विषय नहीं है। लक्ष्य तो अपना अविकार चैतन्यस्वरूप है।

(८१) **मोक्ष तत्त्वकी उपादेयता**—निर्जरा जब बन जाती है पूर्णतया तो संसार अवस्थामें रहने वाले जीवको मुक्तिकी जरूरत है, तब ही यह दुःख दूर होगा। तो उसके लिए प्रयोजन भूत सात तत्त्वोंका परिज्ञान करना आवश्यक है। यह सब आगमके बिना हम को कहाँ से मिलता? सो तब ही यह अपने अंतस्तत्त्वको जानता है तो वह प्रकट सम्यग्दृष्टि जीव है। सम्यग्दर्शन होनेपर इस जीवको फिर इस संसारमें कुछ अपना दिखानेकी उमंग नहीं रहती नहीं दिखाता है। उसके तो अद्भुत प्रसन्नता उत्पन्न होती है। न किसीको अपना दिखावा करना और न किसीकी कोई चेष्टासे इसमें क्रोध जगना। कोई अपराध भी करे तो यह भोक्षमा कर देता है। इसकी निरन्तर धर्मकी ओर दृष्टि रहती है। धर्मात्मा जनोंमें अनुराग रहता है। संसारके भावोंसे यह दूर रहता है। सब जीवोंपर दयाका भाव है, क्योंकि उसने सबका स्वरूप अपने स्वरूपकी तरह समझ पाया है इसलिए सदा अनुकम्पा रहती है। आगममें परोक्षभूत तत्त्वोंको जैसे बताया गया है उसमें इसको संदेह नहीं होता, जैसा पुत्रको माँ या पिता कोई बात बनावे तो वह पुत्र वैसा ही श्रद्धान करता है। तो ऐसे ही आगम जिनवाणी जैसा हमको बताते हैं सम्यग्दृष्टिजन उस ही प्रकार श्रद्धान करता है। नरक स्वर्ग लोक रचना सब कुछ उसे बिल्कुल सच दिख रही है जैसा आगमका प्रतिपादन है, तो इस तरह जो ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है, और यह श्रद्धा मिलेगी आगमके श्रद्धानसे।

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥६॥

(८२) **जिनोक्तसूत्रमें परमार्थ व व्यवहारका प्रतिपादन**—यह सूत्र पाहुड ग्रन्थ है, इसमें सूत्रका वर्णन है अर्थात् आगम। जो द्वादशाङ्ग और अंगबाह्य रूप है, इस सूत्रके सहारे ही मनुष्य अपने आपकी खोज कर सकता है। इस सूत्रका सहारा ही न रहे तो अपनी खोज नहीं कर सकता। सूत्र मायने डोरा भी है। तो जैसे डोरेका सहारा न रहे तो सूई नहीं मिल सकती है। बड़ा विरल काम है और डोरेका सहारा रहे याने सूईमें डोरा पिरोया रहे

तो सूई गायब नहीं होती, वह मिल जाती है, ऐसे ही सूत्र आगम इनका सहारा रखे तो आत्माके दर्शन हो सकते हैं और इनका आश्रय छोड़ दें और यदवा तदवा मनकी कल्पनासे निहारे तो इसमें आत्माके दर्शन नहीं होते। वह सूत्र जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया है सो व्यवहाररूप और परमार्थरूप है। उसको जानकर योगी पुरुष सुख पाते हैं और कर्ममलको दूर करते हैं। जैनागम स्याद्पदसे मुद्रित है, क्योंकि स्याद्वाद बिना वस्तुका पूरा परिचय नहीं होता। तो निर्णयमें तो निश्चय व्यवहार सब काममें आता है, पर कल्याणकी दिशामें जब बढ़ते हैं तो व्यवहार गौण होकर निश्चय मुख्य होता। फिर निश्चय गौण होकर शुद्धनय रह जाता, फिर किसी भी नयका विकल्प नहीं रहता, अनुभव मात्र दशा होती है। परमार्थ और व्यवहार। परमार्थका तो अर्थ यह है कि परम अर्थ। यथार्थ जैसा सहजस्वरूप है उस रूपकी निरख, और व्यवहारका अर्थ है कि सहज स्वरूपके अतिरिक्त उसके परिचय के लिए अन्य-अन्य विषय, उनका प्रतिपादन व्यवहार कहलाता है। व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश नहीं बन सकता। व्यवहारके बिना परमार्थका और किसीको निर्देश नहीं किया जा सकता इसलिए व्यवहार उपकारी है, किन्तु वह परमार्थके प्रतिपादनके लिए ही है। और यह व्यवहारनय ऐसा उपकारी नय है कि जैसे माँ अपने प्राण गवाँ कर भी अपने बच्चेकी रक्षा करती है इसी तरह व्यवहारनय अपना विनाश करके निश्चयको उद्योतित करता है।

(८३) **आगमकी सर्वाङ्गरूपता व अध्यात्मकी आगमांशरूपता**—आगम चार अनुयोगोंमें है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि यह आगमकी बात है, यह अध्यात्मकी बात है, ऐसे जैन शासनमें दो भेद नहीं पड़े हैं कि यह तो आगम है और यह अध्यात्म है, किन्तु आगम और अध्यात्मका अर्थ क्या है कि जो सर्व वर्णन है और उस आगमके वर्णनमें से केवल आत्माका ही वर्णन होना वह अध्यात्म है। तो अध्यात्म आगममें गर्भित है। आगम अलग वस्तु हो, अध्यात्म अलग वस्तु हो ऐसा नहीं है किन्तु अध्यात्म भी है और इसके अतिरिक्त सर्व प्रकारका वर्णन भी है। आगममें सामान्यसे, निश्चयसे, व्यवहारसे सब तरहका वर्णन है। आत्माका, पुद्गलका, धर्मादिक द्रव्योंका, अशुद्धका, शुद्धका सबका वर्णन है, उन वर्णनों में से केवल आत्माका वर्णन होना अध्यात्म है और उसमें सामान्यतया वर्णन होना सो निश्चय है और विशेषतया वर्णन होना सो व्यवहार है, क्योंकि सामान्य वर्णनमें अभेद रहता है, विशेष वर्णनमें भेद हो जाता है। तो ऐसे सामान्य विशेष दोनों रूपसे आत्माकी ही बात का निरूपण होना अध्यात्म है। तो इस प्रकार जिनशासनका बोध करें।

(८४) **आगमकी आज्ञाहेतुद्वयसाध्य श्रद्धा**—आगमविषयक दूसरी बात है आज्ञा और

हेतुकी । इन दोनोंके आश्रयसे आगमका अभ्यास करें, केवल हेतुसे ही ज्ञान बनावे तो वह आगमसे बाह्य बात है । हेतु उसका सही है जो आगमकी श्रद्धाके साथ हेतुवोंसे जुदा कर रहा है और जिन विषयोंमें हेतु न चले, युक्ति न चले वह आज्ञासिद्ध कहलाता है । तो आगमका सहारा लेना प्रत्येकको आवश्यक है । कोई युक्तिसे सिद्ध करे उन सात तत्त्वोंको, एक तो आगमका सहारा लिए बिना युक्तिसे भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ उसने पहले आगम से पढ़ा है, उसके बारेमें मनन किया है तब वह युक्ति और हेतुवोंको अब सिद्ध कर रहा है । कोई आगमके बिल्कुल विपरीत रहे और सोचे कि आगम क्या, उससे मुझे कुछ मतलब नहीं, मैं तो युक्तियोंसे निकालता हूं तो यह उसका एक स्वच्छंद वचन है और आगमकी श्रद्धाका उसने अपमान किया है । आगमकी श्रद्धा रखते हुए युक्तियोंसे सिद्ध करना यह है रीति और जिन वचनोंमें युक्ति न चल सके उनको आज्ञासे मानना, जैसे स्वर्गोंके विमानोंकी लम्बाई-चौड़ाई, स्वर्ग नरककी रचना, अब यह कोई युक्तिसे सिद्ध हो सकेगा क्या कि यह विमान इतना ही लम्बा है ? इतना ही चौड़ा है या यह नरक इतना, पटल इतना बड़ा है, तो यह आज्ञासे सिद्ध होता है, पर ७ तत्त्व, ६ द्रव्य इनका निर्णय युक्तिसे भी है और आगमसे भी है, पर यहाँ कोई आगमकी अवहेलना करके और अपना कौशल दिखानेके लिए ऐसा ही कहे कि हम आगमको कुछ नहीं मानते, जो युक्तिमें उतरेगा सो ही हम मानेंगे, सो आगमकी श्रद्धा से हटकर जो केवल युक्तिकी ही बात कहे वह स्वच्छन्द वृत्ति है । युक्ति लगाये, पर आगमको श्रद्धासे हटे नहीं, इस तरह परमार्थ और व्यवहार दोनोंको जो जानकर आत्माकी ओर आता है वह योगी सुख पाता है और मुक्ति पाता है ।

(८५) एक ही वाक्यमें निश्चय, व्यवहार दोनोंका दर्शन—देखिये—जब किसी वस्तुका निर्णय करने चलते हैं, उस वस्तुको अभेद विधिसे निरखते हैं तो वह सामान्य बन जाता है । एक विषय करने वाला निश्चय है । जब भेद विधिसे देखते हैं तो उसका विशेष बनता है । उनका वर्णन करने वाला व्यवहार है । जैसे आत्मा एक विविक्त शुद्ध ज्ञानभावस्वरूप है, देखिये कैसा ही निश्चय आप बोलें उस ही में व्यवहार पड़ा हुआ है और कैसा भी व्यवहार बोले, उसमें निश्चयका लक्ष्य नहीं है तो वह भी प्रयोजनवान नहीं है । तो प्रत्येक व्यवहारमें निश्चयकी गंध, प्रत्येक निश्चयमें व्यवहारकी गंध, क्योंकि यह तो एक जानकारीका उपाय है । निरपेक्षनय मिथ्या होता है, सापेक्षनय सम्यक् होता है, पर अनुभव दशामें किसी भी नयका आलम्बन नहीं रहता । ऐसे ही समझाया गया कि यह आत्मा स्वयं सहज अविकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, यह निश्चयसे बताया गया, मगर इस उपदेशमें भी कई तोड़े हुई हैं और जितना यह समझा गया कि स्वयं सहज सत् अर्थात् किसी

परकी अपेक्षा न रखकर किसी परका सम्बंध न जोड़कर जानना । तो जैसे सत्त्व बताना पर के असत्त्वके साथ है उसको परके असत्त्वका भी निर्णय है तो ऐसे ही निश्चयनयसे जान रहे कि हालतमें परसे निराला है, स्वभावसे ही देखता है आदिक जो छाँट बनी है और उसके सहारे निर्णय है वह एक व्यवहारकी ही तो विधि है, मगर दृष्टिका अंतर है । एक ही वचन निश्चयरूप भी हुआ, शुद्ध अशुद्ध व्यवहाररूप भी हुआ ।

(८६) एक ही वाक्यमें निश्चय व्यवहार दोनोंके दर्शनका उदाहरण—जैसे यह बात शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनयसे जल्दी समझमें आ सकती है । कैसे कि शुद्ध निश्चयनयका विषय है कि प्रभु केवलज्ञानी हैं, अब उस केवलज्ञान शुद्ध पर्यायको उस द्रव्य में अभेद करके निरख रहे, इस दृष्टिसे निरखनेपर वह निश्चयनय है और वह प्रभु आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है । उसमें से एक केवलज्ञान पर्यायको देख रहे हैं तो यह भेद किया उससे व्यवहारनय है । आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ऐसे अनन्तगुण हैं, ऐसा भेद करके बताया, इस कारण व्यवहार है, पर आत्माकी अभिन्न शक्तियोंको आत्मामें ही बता रहे हैं, इस कारण निश्चय है । बात एक ही कही जा रही है, मगर निरखनेकी रीतियाँ दो हैं । कुछमें एक ही वाक्यमें निरखनेकी रीति दो होनेसे अब जो प्रधान हो आपके आशयमें उस नयका नाम बोला जायगा । तो वस्तुको निरखें । नय विशेषरूपसे देखें तो जो सामान्य रूपसे देखनेकी रीति है वह तो है निश्चयनय और जो विशेषरूपसे देखनेकी रीति है वह है व्यवहार नय । सो विवक्षासे उस वस्तुके ज्ञानकी साधना होती है । तो आगममें अभेदविधिसे, भेदविधि से, सामान्यसे, विशेषसे, सब प्रकारसे वर्णन है । तो उन सब वर्णनोंसे उस वस्तुका स्वरूप सिद्ध करना चाहिए ।

(८७) अविकार सहज स्वयं सद्रूपताकी दृष्टि पाये बिना भूतार्थंकी चर्चामें विडम्बना—एक बात यहाँ और समझना चहिए कि व्यवहारको अभूतार्थ कहा है और निश्चयको भूतार्थ कहा है, तो भूतार्थंका क्या मतलब और अभूतार्थंका क्या मतलब ? यह शब्दसे ही निकालो भूत कहते हैं सत् हुए, जो स्वयं सत् रूप हैं वे तो भूतार्थ हैं और जो स्वयं है अपने आप परका निमित्त पाये बिना और सदा है वह तो भूतार्थ कहलाता और जो सदा नहीं, स्वयं नहीं, औपाधिक है वह व्यवहार है । हैं दोनों ही सही, क्योंकि स्वयं सद्भूत वस्तु है ही और यह भी लगा हुआ है साथ कि कर्मका निमित्त पाकर जीवकी यह संसरणदशा बन रही है । कोई कहे कि यह तो अज्ञानमें बन रहे तो वह अज्ञान भी तो आगंतुक है, औपाधिक है । हो तो रहा है । तो कर्म सहित है जीव यह भी बात सही है और खालिस एक चैतन्यमात्र है जीव, यह भी बात सही है । मगर जब केवल स्वयंभूत अर्थंको देख रहे हैं तो उससे जो

द्रव्यका निर्णय किया कि वास्तवमें जीव तो सहज चैतन्यस्वरूप है तो इस दृष्टिमें विकार जीव के स्वरूप नहीं है। जब स्वरूपकी दृष्टिसे वस्तुको निरख रहे हैं, स्वभावमात्र आत्माको निरख रहे हैं और वही परिपूर्ण वस्तु है जो शाश्वत् है, तो उस दृष्टिमें विकार व्यवहार ये प्रतिष्ठा नहीं पाते और इस कारण इस दृष्टिमें व्यवहार असत्यार्थ है, क्योंकि जीवके स्वरूपमें विकार नहीं हैं। मगर इस दृष्टिको तो कोई रखे नहीं व्यवहार अभूतार्थ है, असत्य है। केवल इतनी ही सीख रटे तो उसने नयोंका मर्म नहीं पाया और ऐसा कहते रहने पर भी जीवनमें किसी भी समय वह अनुभव जैसी तैयारी नहीं कर पाता, किन्तु जो जानता है कि हमको विपत्तिसे हटना है और जो शान्ति धाम है उसमें आना है। वही तो पौरुष करेगा कि मैं इस विकार व्यवहारके विकल्पको त्याग कर अपने इस शांत स्वरूपमें पहुंचूं। जो विपत्तिमें पड़े हैं और विपत्ति मान रहे हैं और मुखसे कह रहे कि कोई विपत्ति नहीं तो उससे कहीं भला मार्ग तो न मिल जायगा। हां कोई स्वरूपकी निगाह रखकर वहां निरखें और उस ही में अपने आपका अनुभव करें और उस ही के लिए पक्का हो जाय तो उसका यह कहना ठीक है कि विकार नहीं। इस पर कोई आपत्ति नहीं, इस पर कोई कष्ट नहीं। मगर दृष्टि हो उस जीव तत्त्वकी जो कि सहज स्वयं सद्रूप है।

(८८) अविकार अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि प्राप्त होनेपर स्वपरका यथार्थ दर्शन—परके लेपसे रहित केवल अपने आपके स्वभावरूप स्वयंभूत अर्थकी जिसे दृष्टि मिली उसका सचमुच में सारा ढांचा बदल जाता है उसमें प्रशम सम्वेग अनुकम्पा और आस्तिक्य ये स्वयं सहज प्रकट हो जाते हैं। जिस जीवका भवितव्य अच्छा है, कर्म मुक्त होनेका निकट समय है उस जीवको इस केवल स्वरूपका परिचय मिलता है। जब यह मैं जीव सत् हूँ तो वह मैं केवल अपने आप अपनी सत्तासे किस रूपमें हूं बस यह परखना है और यह दृष्टिमें आते ही यह उस का पूरा निर्णय हो जाता कि मेरा अणु मात्र भी नहीं है, परिजन तो मेरे क्या होंगे ? वैभव तो मेरा क्या होगा ? मेरा इस ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वके अलावा जगतमें कुछ नहीं है। था ही नहीं, हो ही न सकेगा। मैं तो यह पूर्ण एक ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व हूं, इसमें मेरा ही परिणमन चल रहा है। और जो परिणमन चल रहा है वह समय-समयमें एक एक है, अखण्ड है। जैसे हम अपने इस सहज सत्को मुखसे नहीं बता सकते, इसी प्रकार समय-समयपर जो जो मेरा एक-एक परिणमन निरन्तर चल रहा है उसको भी नहीं बता सकते। और जैसे हम अपने उस सहज स्वरूपको गुणभेद करके बता पाते हैं कि इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, भेद करके बता पाते, व्यवहारसे बता पाते इसी प्रकार मेरा प्रति समयमें क्या क्या परिणमन चल रहा है उसको भी हम भेद करके ही बता सकते हैं कि यह ज्ञानगुणका

परिणमन है, यह दर्शन गुणका परिणमन है, वह भी मोहके आश्रयसे ही कहा जा सकता है।

(८९) **आत्माकी उपादेय सहजकला**—भैया ! सहज कला एक यह आनी चाहिए कि मैं सहजचित्प्रकाश मात्र हूं। इस कलाको मनुष्य लोग बहुत-बहुत अध्ययन करके पाते हैं और कोई कोई तो बिना अध्ययनके भी वह कला प्राप्त कर लेते हैं जैसे कि बहुतसे पशु-पक्षी वे पढ़े लिखे कहाँ होते फिर भी सम्यक्त्व पा लेते हैं। एक दृष्टिकी बात है। जैसे देखा होगा कि किसी कार्डमें कोई दो तीन वृक्ष बने होते हैं और वे वृक्षके चित्र इस ढंगसे बने होते हैं कि उनके बीचमें जो खाली स्थान रह जाता है उसमें शेर, पक्षी, मनुष्य आदिके भी चित्र बन जाते हैं। स्याहीके नहीं किन्तु खाली कार्डमें। अब उस कार्डको निरखकर लोग हैरान हो जाते कि कहाँ इसमें पशु, पक्षी, मनुष्य आदि बने ? यहाँ तो केवल वृक्ष दिख रहे हैं। वे वृक्ष तो देख रहे पर खाली जगहको नहीं देख रहे और एक बार दिख जाय, बतानेसे दिख जाय कि देखो यह इस तरहका जो आकार है यह है पक्षी, यह है शेर और यह है मनुष्य। बस एक बार इस तरहका परिचय हो जानेपर फिर दुबारा उनको देख लेनेमें असुविधा नहीं रहती। झट दिख जाता कि यह है। जिसकी दृष्टिमें एक बार आ गया उसको तो झट दिख जाता और जिसकी दृष्टिमें एक बार भी नहीं आया वह ढूढ़ँते-ढूँढ़ते हैरान हो जाता। वह दूसरोंके कहनेसे बहुत-बहुत पुरुषार्थ भी करे तो भी बाह्यमें डोलता रहेगा। बहुत सीधा साधन है अपने आपको निरखनेका जैसा कि पशु पक्षी किया करते हैं अन्य साधारण जन किया करते हैं। वह उपाय यह है कि जगतके समस्त पदार्थोंको भिन्न असार जान लें और यह जान लें कि विकार तो कर्मका सन्निधान पाकर आये है, इन्हें मैं अपने आप नहीं कर पाता। केवल मैं ही बिना निमित्त पाये विकार कर लूं ऐसी बात नहीं है अतएव विकार भी असार हैं। तो परभाव और परपदार्थ दोनों को असार भिन्न जानकर उनसे अत्यन्त उपेक्षा कर लें और सबका ख्याल छोड़ दें तो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं ही अनुभवमें आता है। तो सर्व तरहसे निर्णय करके फिर सबका ख्याल भूलकर परम विश्राम में बैठें, वहाँ यह अनुभव जगता है।

(९०) **भूतार्थ अभूतार्थके अर्थकी मीमांसा**—जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा गया सूत्र व्यवहाररूप है और परमार्थ रूप है उसे जानकर योगीश्वर सुख पाते हैं और मल ज्ञानपुञ्ज से दूर करते हैं। व्यवहाररूप जानना, परमार्थरूप जानना। इन दो सही ज्ञानोंमें एक ऐसा प्रभाव है कि यह जीव विकारसे हटकर अविकार स्वरूपमें आ जाता है। भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दशः देखें तब यह अर्थ बना कि जो स्वयं सहज भूत अर्थ है वह है भूतार्थ और जो स्वयं सहज नहीं है वह सब है अभूतार्थ। और जो स्वयं सद्रूप नहीं है, किन्तु समझानेके

Version 1

लिए भेद करके कहा जाय वह है अभूतार्थ । अभूतार्थके मायने असत्य नहीं, किन्तु वह तत्त्व कौन निरपेक्ष है, कौन सापेक्ष है, क्या अभेद है, क्या भेद है, इसका निर्णय होनेपर निरपेक्ष अभेद अर्थ होता है भूतार्थ सापेक्ष और भेद वाला तत्त्व है अभूतार्थ । जब इस मूडमें आकर भूतार्थ अभूतार्थका परिचय किया जाय कि भूतार्थ मायने सत्यार्थ, अभूतार्थ मायने असत्यार्थ तो अब उसके परखनेकी रीति दूसरी हो जायगी । प्रथम तो यह ही जानें कि सत्यार्थ कहते किसको हैं ? सति भवं सत्यं किसी सत्में अपने आप स्वतंत्रतया जो हो उसे कहते हैं सत्य । इस अर्थमें भूतार्थ और सत्यार्थमें अन्तर नहीं आया । असत्यार्थका अर्थ करें कि जो स्वयं सहज सत्में नहीं है वह है असत्यार्थ । तो इसमें भी अभूतार्थ और असत्यार्थमें अन्तर नहीं आया, लेकिन कोई सत्यार्थका अर्थ कहे सच और असत्यार्थका अर्थ कहे झूठ तो इसकी रीति बदल जाती है ।

(६१) **सत्यार्थ असत्यार्थमें नयवाद**—स्वभावदृष्टि जब की जा रही हो तब तो सहज स्वभाव भूतार्थ है और नैमित्तिक भाव असत्यार्थ है याने स्वभावदृष्टिके मूडमें यह निर्णय पड़ा है कि जो स्वयं सहज सत् हो वह है सत्यार्थ और जो स्वयं सहज सत् नहीं है, किन्तु निमित्त सन्निधान पाकर उत्पन्न हुआ है वह झूठ है, क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है, पर जो विकार हो रहा है वह क्या झूठ है ? विकारका फल है आकुलता, वह भी मिल रही । विकार रूप परिणमन, वह भी पर्यायमें है । झूठ कैसे ? तो जब निमित्त नैमित्तिक योगकी ओरसे देखा, घटनाकी ओर देखा, बीत रहीकी ओरसे देखा तो वे औपाधिक भाव विकार सच हैं किन्तु स्वभावदृष्टि करके निरखें तो वहाँ विकार नहीं पाया गया, अतएव असल है, ऐसे सापेक्ष निर्णयसे जिसने व्यवहार और परमार्थका निर्णय किया है वह ही पुरुष कर्मका क्षय करता है । अब अभेद और भेदकी बात देखिये—अभेदसे आत्मस्वरूपको जाना तो बस जो जाना गया सो ही कह बैठेंगे तो भेद आ जायगा । जाननेमें तो ठीक रहा, अभेद रहा, पर उसके कहनेके लिए शब्द नहीं हैं जो विधि रूपसे बताया जा सके । तब उस ही ज्ञानस्वरूप आत्मा का गुणभेद करके समझाना कि जिसमें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है वह आत्मा है, तो अभेद अखण्ड स्वभावकी अपेक्षा तो ये गुण असत्यार्थ हैं, क्योंकि कुछ अलग-अलग पड़े हुए नहीं हैं, वह एकमें एकको समझनेके लिए यह भेद बनाया गया था । तो स्वभावदृष्टिकी तुलनासे तो असत्यार्थ है, पर क्या कभी झूठ परिचयसे सही ज्ञान जग सकता है ? मगर यहाँ तो गुणोंके परिचयसे आत्माका बोध हो रहा है । ठीक हो रहा है, कहीं चूकते भी नहीं हैं । तो बात क्या है कि जब हम उस प्रतिपादन और समझकी निगाहसे देखते हैं तो आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ये सब बातें सही हैं, सत्यार्थ हैं, किन्तु स्वभावदृष्टिमें भेद और औपाधिक

भाव असत्यार्थ है और व्यवहारदृष्टिमें समझानेके मूडमें, बीत रहीके मूडमें विकार गुण भेद सब सत्यार्थ हैं। तो बात यहाँ ऐसी जम रही है कि जब स्वभावदृष्टिसे देखते हैं तो बीत रही बात झूठ और जब बीत रहीको निगाहसे देखते हैं तो बीत रही की बात सच है।

(९२) प्रयोजनकी अपेक्षा सत्यार्थ असत्यार्थका निर्णय—क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बीत रही की निगाहमें देखें तो स्वभाव असत्य है। कहा तो जा सकता, मगर ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अगर कोई पर्यायकी मुख्यतासे ही दृष्टि कर रहा है तो उसकी निगाहमें पर्याय है, स्वभाव नहीं है। इस रूपसे पर्याय दृष्टिमें स्वभावकी बात असत्यार्थ है। मगर ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं, इसमें कोई कार्य सिद्ध नहीं। अतः इतना ही कहना योग्य होता है कि पर्यायकी दृष्टिमें पर्यायकी बात सत्यार्थ है, लेकिन स्वभावकी तुलनामें बीत रही बात असत्यार्थ है, क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है। तो जिनागमका जिसने भली प्रकार अभ्यास किया वह तो कल्याणसे च्युत नहीं होता।

जिसकी नयोंकी समझ कमजोर है या विपरीत है वह अपने कल्याणमार्गसे च्युत हो जाता है। कैसे? यदि यह ही मान लिया जाय कि जीवमें विकार हैं ही नहीं तो फिर अब कल्याण करनेकी जरूरत ही क्या है? कल्याण तो उसे कहते हैं कि भाई कोई आपत्ति है, विकार है तो उसको हटाने और समझाने वाली स्थिति लाना इसको कहते हैं कल्याण। जब यह मान रखा है कि आत्मामें विकार होते ही नहीं हैं तो कल्याणकी क्या जरूरत? और कोई यह मान ले कि आत्मामें तो योग्यता ही है विकार करनेकी तो भाई विकार हटाए ही कैसे जा सकते? आत्मा नित्य है और आत्माकी ही योग्यता है सो वह भी नित्य है और उससे ही विकार आया सो वह भी नित्य रहा। अब मेटनेकी गुंजाइश ही कहाँ रही? तो जो सही समझ बनाता है कि विकार जीवके स्वभावमें नहीं, किन्तु कर्मविपाकका सन्निधान पाकर ये विकार जगे हैं, जगे आत्मामें हैं इसलिए इनको हटानेकी आवश्यकता है और स्वभावमें ये हैं नहीं इसलिए ये हटाये जा सकते हैं। तो विभावोंसे प्रीति तजना, स्वभावमें लीन होना बस यह है कल्याणका रूप। तो आगमका श्रद्धान और आगमके श्रद्धानसे लाभ उठाना यह बात उन जीवोंके बनती है जो आगममें आस्था बनाये हैं और जिनमें युक्ति चलती है उनको युक्तिसे भी जास रहे वह पुरुष आगमके अभ्यासका लाभ उठाता है। तो ऐसा आगमका कथन समझकर, उसकी श्रद्धा रखकर यथाशक्ति आचरण करना।

(९३) आगमकी आस्था बिना अहितकारी स्वच्छंद प्रवर्तन—इस कालमें जो स्वच्छंद मन वाले हो जाते हैं याने गुरु सम्प्रदायसे चले आये तत्त्वमें आस्था न करके जो मेरा मन मानेगा वह है ठीक और जो न मानेगा वह नहीं है ठीक। आस्था तो न रखे किन्तु अपने

Version 1

ही मनको वह निर्णयके लिए सौंपा है तो पुरुष तो छद्मस्थ हैं, स्वल्पबुद्धि वाले हैं, वे परीक्षा करके ही उसे ठीक समझें इस लायक योग्य नहीं हैं, मगर आस्थाके साथ परीक्षा करना उस परीक्षा करनेकी मनाई नहीं, त्रुटियोंको समझनेका निषेध नहीं, पर आस्था सहित परीक्षा करे तो उसको सफलता मिलती है, और जो आस्थाको जड़से फेंककर परीक्षा करने जाय तो उसकी यदवा तदवा प्रवृत्ति बनती है। तो आगमकी आज्ञाको प्रधान रखकर परीक्षा करनेमें दोष नहीं, किन्तु परीक्षाको ही प्रधान रखकर चलनेमें पतनकी सम्भावना है ही। सो स्याद्वाद द्वारा आगमके वाक्योंका सही अर्थ लगाकर फिर जो नय, जो दृष्टि हमारे हितके लिए प्रमुख है उसकी मुख्यतासे उसका लक्ष्य रखकर आगे बढ़ना। जैसे व्यवहार और निश्चयमें अपेक्षासे एक परम शुद्ध निश्चयनय भला लगा तो परम शुद्ध निश्चयनयका विषय ही सत्य है बाकी सब असतय है। तो सारा आगम जितना भी है यह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय तो नहीं है। पूरा द्वादशांग यह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय नहीं, क्योंकि परम शुद्ध निश्चयनयका विषय तो अपना अखंड अभेद ज्ञानस्वरूप ही है। उस आगमको हमने जाना परम शुद्ध निश्चयनयका विषय और उसको अपनेमें उतारा वह है विषय। द्वादशांग तो उसका संकेत है अर्थात् द्वादशांग स्वयं साक्षात् व्यवहार है। उसमें रत्न पड़े हैं, उनका उपयोग करना। कथनी जितनी होती है वह व्यवहार है। तो ये शास्त्र अचेतन हैं या कथनके शब्द हैं। परम शुद्ध निश्चयनयका विषय अचेतन नहीं अध्यात्ममें, परमशुद्ध निश्चयनयका विषय भेद नहीं, किन्तु एक अखण्ड तत्त्वका परिज्ञान। सो ये ज्ञानरूप तो नहीं हैं शास्त्र। शास्त्र सब संकेत हैं, प्रतिपादन हैं। तो व्यवहार अभूतार्थ है, असत्य है के मायने है समस्त शास्त्र असत्य हैं, अतः नयवादसे निर्णय बनावें, शास्त्र असत्य नहीं, असत्य उपायसे सत्यकी खोज नहीं बनती, यह सब सत्य उपाय है, पर स्वभावकी रुचि है, स्वभावका ही परिचय चाहिए, वह है अपने आपमें, उसको निरखियेगा अपने प्रयोग द्वारा। अपना काम निकाल लिया जायगा, मगर जिस तीर्थके द्वारा, जिस प्रवृत्तिके द्वारा, जिस अभ्यासके द्वारा हम इस स्वभाव तक आ पाये हैं उसका उपयोग दूसरोंको भी होने दिया जाय। उसे झूठ कहकर दूसरोंको एक मौका हटा देना यह योग्य नहीं है। तो निश्चयका, व्यवहारका, परमार्थका और व्यवहारका सही निर्णय जानकर परमार्थकी मुख्यतासे आगे बढ़ना मुमुक्षुका कर्तव्य है।

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो।
खेडे वि ण कायव्वं पाणिपत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

(६४) **सूत्रार्थविनष्ट मनुष्यकी अपात्रता**—जो सूत्रका अर्थ है, सूत्रका पद है, वह जिसकी बुद्धिमें नहीं, जो उससे अनभिज्ञ है, सूत्रार्थ पद जिसके नष्ट है ऐसा जीव तो प्रकट मिथ्या-

दृष्टि है । ऐसे पुरुषसे जो सचेत है, वस्त्र सहित है उसे हँसी कौतूहल खेलमें भी पाणिपाय न करना चाहिए अर्थात् आहारदान न करना चाहिए, याने धर्मबुद्धिका नाता न रखना चाहिये और कोई इसीसे यह भी ध्वनि होता है कि कोई वस्त्ररहित है और सूत्र अर्थ अक्षर पद जिसके विनष्ट हैं और वह वस्त्र धारण कर मुनि कहलावे वह जिन आज्ञासे भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि है । इसमें अपनी प्रवृत्तिकी शिक्षाके लिए इसके कितने ही अर्थ निकल आते हैं । जैसे जो अपनेको मुनि बताये और वस्त्रधारी है वह भी अयोग्य है । भक्तिके पात्रदानके योग्य नहीं है, और जो वस्त्रसहित है अपनेको गुरुपना जतावे है वह भी भक्ति और पात्रदानके योग्य नहीं है, क्योंकि वह जिनसूत्र जिन अर्थसे भ्रष्ट है । व्यवहारमें ऐसा ही वेश रखा जाना चाहिए जो जिस पदवीमें सही माना जाता है, अब वहाँ यह बताया गया है कि उत्कृष्ट श्रावकसे पहले याने १० वीं ११ वीं प्रतिमासे पहले किसी प्रकारका भेष रखना वस्त्रसहितमें भी जिस भेषमें यह जचे कि ये गुरु हैं, ये भेष रखते हैं गुरु बतानेके लिए, तो वहाँ आगमका श्रद्धान नहीं है । जैसे सर्वसाधारण हैं, जैसा कि अव्रती लोग रहते हैं वैसे ही कपड़े पहिनकर उत्कृष्ट श्रावकसे बहुत रहते हैं, अन्तर इतना है कि अव्रतियोंको तो ऊनके कपड़ोंका, रेशमके कपड़ोंका कुछ विवेक नहीं चूंकि यह प्रतिमाधारी है, यह विवेक पूर्वक रहता है, मगर कोई भेष रखना यह उत्कृष्ट श्रावकसे पहले बताया नहीं गया ।

(९५) **जैनशासनमें उपास्य व पूज्य तीन लिङ्ग**—जैन शासनमें तीन लिंग ही बताये गए हैं—(१) मुनिलिङ्ग (२) उत्कृष्ट श्रावकका लिङ्ग और (३) आर्यिकाका लिङ्ग । इन तीन लिङ्गोंसे अतिरिक्त कोई जैनशासनमें लिङ्ग नहीं है, ऐसा दर्शनपाहुडमें बताया ही गया है । तो स्वयंकी रक्षा चलती है । मुमुक्षुको यह चाहिए कि अपना भेष कुछ अलगसे जंचे, एक जंचाव बने ऐसा बनावटी भेष न रखना चाहिए । और रखें कोई ऐसा तो जो विवेकी सम्यग्दृष्टि समझदार श्रावक हैं वे उसे धर्मबुद्धिसे विनय नहीं करते, पात्रदान नहीं करते । आगमकी श्रद्धासे प्रवृत्ति भी करना और ज्ञानभावना आदिक भी करना जो इस तरह अपनी चर्या रखता है उसको सुगमता है कि वह मार्गमें चलेगा अन्यथा मायाचार आ जाता है । जहाँ भेष बताया नहीं वहाँ भेष रख लेना, इसमें विकट मायाचार है । तो मायावी हृदयमें धर्मका प्रवेश नहीं होता । तो जिसको कल्याणकी भावना है वह अपने ही पदके अनुसार व्यवहारभेष रखता है और न रखे तो उसने आगमकी अवहेलना की । तो आगमका अर्थ पद ये कुछ भी न जाना इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है । चाहे जगतको अपना कैसा ही रूप दिखाये और कुछ भी प्रसिद्धि करे । तो जिन सूत्र अर्थ अक्षर इनकी सही श्रद्धा सहित युक्तिवादमें बढ़ना और प्रवृत्तिमें बढ़ना यह शिक्षा इस प्रकरणमें दी गई है ।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी ।

Version 1

तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८॥

(९६) **आगम श्रद्धान व आत्मज्ञानके बिना सिद्धिकी अशक्यता**—जो मनुष्य सूत्रके अर्थ पदसे भृष्ट है, आगमके कथनको सही रीतिसे नहीं लेता है और उसकी आस्था भी नहीं है वह पुरुष हरिहरके तुल्य भी हो जाय, रुद्र और नारायणके तुल्य भी हो जाय तो भी अनेक ऋद्धि युक्त होने पर भी वह सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता है। मोक्षमार्गमें वह नहीं है। जिसने अपने केवलके स्वरूपको जाना उसकी धुन अपने स्वरूप भावनाकी ही रहती हैं और वह पुरुष इस केवलके ध्यानके सहारे कैवल्य प्राप्त कर लेगा। किन्तु जिसको कैवल्य दृष्टिकी धुन लगी है वह पुरुष अपनी उस धुनमें, उस लक्ष्यकी पूर्तिके लिए जो बाधक हो रहे हैं उन सब बाधावोंको हटा कर ही रहेगा। वे बाधायें क्या है? परद्रव्यका ग्रहण। जहाँ परवस्तु रखे, परद्रव्यका ग्रहण अपनी आजीविकाके लिए खेती आदिक रखे, परद्रव्यका ग्रहण सर्वपरका ग्रहण तज देगा तो रह क्या जायगा? यथाजात रूप। दिगम्बर स्वरूप। वह रह गया तो दिगम्बर बननेके लिए दिगम्बर नहीं बने किन्तु आत्मस्वभावके बाधक कारणोंको हटाया जानेके पुरुषार्थमें दिगम्बर बन गए। ऐसे केवलके स्वरूपको ग्रहण किए बिना कदाचित् बड़ा पुण्य उपार्जन करके स्वर्ग भी जाय तो भी वह करोड़ों भवों तक रुलता ही है। वह मुक्तिके योग्य नहीं है। जिसने आत्माके भूतार्थ स्वरूपका परिचय नहीं पाया, जब मैं हूं तो हूं, जो हूं वह शाश्वत हूं। कोई भी है ऐसा नहीं है कि जो है और मिट गया। जो मैं हूं सो शाश्वत हूं। तो जो शाश्वत हूं सो ही मैं हूं। अनित्य मैं नहीं।

(९७) **शाश्वत तत्त्वकी संवेदन गम्यता**—शाश्वत तत्त्व क्या है मुझमें? बस वह चिद्रूप, अनुभवगम्य। जिसको अनुभव हुआ है वह ही इस शब्दको सुनकर परिचय पा लेता है। जिसको अनुभव नहीं हुआ वह इन शब्दोंको सुनकर कुछ अगल-बगल ही तकता रहता है। सो यद्यपि इस समय उसको स्पष्ट नहीं है पर पुरुषार्थ करे तो अनुभव बनेगा और स्पष्ट हो जायगा। जिसने जो चीज कभी नहीं खाया जैसे मानो अनन्नास कभी नहीं खाया, अनन्नास एक फल होता है उस अनन्नास फलके स्वादका कितना ही वर्णन किया जाय फिर भी जिसने कभी नहीं खाया वह कुछ न समझ सकेगा। और जिसने खाया है वह नाम लेते ही तुरन्त जान जायगा। तो कहीं उस शब्दसे नहीं जाना, किन्तु ख्याल करके जाना कि इसके बारेमें बात है वह ऐसा स्वाद है। शुरू-शुरूसे ही जिसका आलूका त्याग है और वह किसीसे पूछे कि बताओ आलूका कैसा स्वाद होता है, तो वह बतायगा, बहुत-बहुत बतायगा, फिर भी इसकी समझमें सही-सही न आयगा। तो ऐसे ही जिसको अपने आत्मस्वभावका अनुभव बना है उसको उसका नाम लेते ही तुरन्त परिचय हो जाता है। जहाँ कहा एक ज्ञायक स्वभाव,

चित्प्रकाश, चिद्रूप, बस वह समझ जायगा, और जिसने आत्मस्वभावका अनुभव नहीं किया उसके कुछ समझ न बनेगी, पर ऊपरी समझ है, उसके आन्तरिक समझ नहीं बनती। तो ऊपरी समझ बनावे वह भी कार्यकारी है उसके बाद आन्तरिक समझ बनेगी, पर साक्षात् समझ तो अनुभवसे प्राप्त हुआ करती है। उस ज्ञानमात्र तत्त्वके अनुभवमें जो अलौकिक सहज आनन्द प्राप्त किया उस आनन्दके अनुभवने उसको दृढ़ बना दिया। अब उसकी धुन किसी दूसरी जगह नहीं लगती। अपने आपके ही इस चित्स्वरूपमें उसका मन रमता है। और कोई बात उसे सुहाती ही नहीं। जिसको जिस कार्यमें लगन लगी उसे वही सुहायेगा, अन्य गप्प न सुहायेगी, ऐसे ही चित्स्वरूपका अनुभव करने वाले ज्ञानियोंको संसारका कोई भी अणु नहीं सुहाता। एक चित्स्वरूप पवित्र, बस यही दृष्टिमें रहे और यही पर्यायमें बने, ऐसी उसकी भावना रहा करती है।

> उक्किट्ठीसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुय भारो य।
> जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छंदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

(९८) आगमविरुद्ध स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले पुरुषकी पापरूपता—सूत्रका यथार्थ ज्ञान करना कितना आवश्यक है कि उसके ज्ञान बिना कोई बहुत उत्कृष्ट सिंहवत् अपना आचरण बनाये मायने निर्भय होकर, निःशंक होकर खूब तपश्चरण करे और बड़े-बड़े तपश्चरणों द्वारा शरीरको भी सुखा ले और आचार्य भी बने, संघनायक रहे तो भी यदि स्वच्छंद आचरण करता है, सूत्रका ज्ञान नहीं, चरणानुयोगका सहारा नहीं वह पापोंमे ही प्रवृत्त होगा, मिथ्यादृष्टि ही हो जायगा। चरणानुयोगके अनुसार चलना श्रावक और मुनिका बड़ा आवश्यक कर्तव्य है, उसके अनुसार चलते हुएमें आत्मस्वभावका ध्यान करे तो उसका वह पात्र है। और जो आगमसे विमुख है, सूत्रसे अलग हो गया है, चरणानुयोगका प्रवेश ही नहीं, उसमें यह कला नहीं जग पाती कि जिस कलासे वह आत्मामें रमण कर सके। चरणानुयोगका बड़ा उपकार है। चरणानुयोगकी विधिके अनुसार जिसका आचरण हो उसको उस जीवनमें स्वच्छंदता रह सकती है, और जहाँ मनकी स्वच्छंदता है वहाँ तत्त्वदृष्टि नहीं बनती, फिर एक इस तरहसे भी समझे कोई कि कोई यह जानता है कि मुझे तत्त्वका ज्ञान हुआ, अनुभव बना, चरणानुयोगकी बात तो मामूली सी है, तो वह मामूली बात कर क्यों नहीं पा रहा? अगर ये साधारण बातें हैं, व्रत, नियम, प्रतिज्ञा, संकल्प त्याग संबन्धी जो बात अगर बेकार सी है, छोटी सी है तो वह छोटी बात भी क्यों कड़ी बन रही है। तो मालूम होता है कि जो आगमके प्रतिकूल चलना चाहता है उसका केवल एक मनका विनोद भर है। पर उस तरह वह तत्त्वदृष्टिका पात्र नहीं। धर्मका तो बन जाय नेता और निर्भय हो, तपश्चरण करके

बड़ा कहलाये और अपने नामसे अपना सम्प्रदाय चलाये तो यह जिनागमसे बहिर्भूत है। पहले बहुत बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य हुए। उन्होंने कभी जिनागमसे बाहर प्रवृत्ति नहीं की। जिनागमकी परम्परासे जो नदीका जैसा प्रवाह चला आया उसीमें काम किया और गुप्त हो गए क्योंकि वे जिनागमके अन्तः नियंत्रण में थे।

(९९) **आगमविरुद्ध प्रलाप, चर्या व वेष रखने वालोंकी संगतिकी भी हेयता**—जिन सूत्रसे च्युत होकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है वह पापी है, मिथ्यादृष्टि है, उसका प्रसंग भी श्रेष्ठ नहीं है। इस सूत्रपाहुडकी टीका हिन्दीमें पंडित जयचन्द जी छाबड़ाने की, जो अबसे करीब १०० वर्ष पूर्व हुए होंगे। उन्होंने यह लिखा है कि धर्मकी नायकी ले करके निर्भय हुआ तपश्चरण आदिकके द्वारा, जिससे जो ढंग बन बैठे उससे बड़ा कहलाकर जो अपना सम्प्रदाय चलाता है जिनसूत्रसे च्युत होकर स्वेच्छाचारी बनता है वह पापी मिथ्यादृष्टि है। उसका प्रसंग भी उत्तम नहीं है। आगम श्रद्धा एक बहुत बड़ा भारी बल है और श्रद्धा वही कहलाती है जो आगमके सभी ग्रन्थोंमें उसकी श्रद्धा हो। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, इन सभीमें उसका कौशल हो और मुख्यतया चरणानुयोगके अनुसार आचरण हो। जीवनमें कैसा आचरण होना चाहिए इस आचरणको बाकी अनुयोग तो नहीं बतलाते। थोड़ा संकेत तो करते हैं तीन अनुयोग कि सदाचारसे रहना चाहिए, मगर वह सदाचार क्या है और किस तरहसे अपना आचरण बने इसका विवरण तो चरणानुयोगमें है। तो चरणानुयोगके अनुसार जो अपने आचरणमें रहता है, चाहे वह पाक्षिक श्रावक जैसा आचरण हो, प्रतिमा सम्बन्धी हो, मुनिसंबंधी हो। जो जिस पदमें है उस पदमें प्रभु जिनेन्द्र द्वारा बताये गए चरणानुयोगके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखे। अधिक दिखावाकी वृत्ति न हो और उ पद माफिक जो बात कही गई है उससे हीन प्रवृत्ति न हो तो ऐसा जिसका आचरण अभ्यासमें आ गया है उसको आचरणका विकल्प भी नहीं करना पड़ता और आचरण होता रहता है यथार्थ और वह अपने आपमें इस सहज अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि बनाये रहता है। सो सूत्रके ज्ञान बिना, आगमकी श्रद्धा बिना, आगममें बतायी हुई विधिके अनुसार चले बिना इस परम अविकार सहज स्वरूपका वह अनुभव नहीं कर पाता।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

(१००) **बाह्यवृत्तिमें मोक्षके मार्ग व अमार्गका निर्णय**—जिनेन्द्रदेवने केवल एक ही मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहारसे कह रहे हैं, वह कौनसा मार्ग है, जिसपर चलना चाहिए, जिसके अनुसार अपनी जीवनचर्या बनाना चाहिए। वह मार्ग है वस्त्ररहित पाणिपात्र मुद्रास्व-

रूप जो मुनिधर्म है वह तो है एक मोक्षमार्ग। व्यवहार मोक्षमार्गकी बात कह रहे हैं कि किस विधिसे उस ज्ञानीका आचरण रहता है जो मोक्षमार्गमें प्रगतिशील होता है, बाकी सब है अमार्ग। एक इस निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा बिना जितनी अन्य रीतियाँ हैं वे सब अमार्ग हैं। कितने ही लोग कितनी ही वस्तुओंका संग्रह रखते हैं और उन वस्तुओंको गुरुपनेका साधन मानते हैं, अनेक लोग मृगकी छालपर बैठते हैं, पर उनके चित्तमें यह नहीं आता कि यह मृगकी छाल आखिर चमड़ी ही तो है, अपवित्र ही तो है, मारकर बनायी गई ही तो है, या मरे हुए मृगसे निकाली गई ही तो है। इसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते हैं। और कदाचित् वह मृगछाल गीली हो जाय तो उसका ग्लानिपन तो स्पष्ट विदित होने लगता है और बजाय इस सही ज्ञानके ऐसी बुद्धि बनती है कि यह बहुत बड़ी पवित्र चीज है। कितने ही लोग वस्त्र तो नहीं पहनते हैं, किन्तु वृक्षके पत्ते, बक्कल वगैरहसे अपने गुह्य अंगको ढाके रहते हैं। तो उसमें उनको एक विकल्प तो रहा, भीतरमें विकार तो रहा, जिससे उनको अंग ढकनेकी आवश्यकता पड़ी। बल्कि जो एक साधारण रिवाज है साफी तौलिया आदि पहननेका तो उसमें विकार सम्बंधी बात उतनी अधिक नहीं बनती जितनी कि बक्कल, पत्ते आदिसे गुह्य अंगको ढाकनेपर बनती है। और सहजस्वरूप अविकार तो एक दिगम्बर मुद्राका है। तो किसी भी प्रकारके अन्य वस्त्र रखना, रोमका वस्त्र, टाटका वस्त्र, तृणका वस्त्र बना लें और अपनेको मान लें कि मैं गुरु हूं, मोक्षमार्गमें चल रहा हूं तो वह उस कालमें जिनागमसे च्युत है। कभी भी हो वह जिनागमसे च्युत है, उसने अपनी इच्छासे अनेक प्रकारके भेष चलाया है, जैसे श्वेत वस्त्र रखकर उसे धर्मका एक अंग समझा और अपनेको गुरु माने तो वह जिन आज्ञासे विमुख है। वह यह नहीं जान पाता कि मेरेमें यह कमजोरी है।

(१०१) **मुनिसे पूर्व पदवीमें ज्ञानी श्रावककी सत्यके प्रति आस्थाका दिग्दर्शन**—उत्कृष्ट लिंग क्षुल्लक अर्जिकाको जो वस्त्र कहा है तो वे वस्त्र पहिनते तो हैं किन्तु यह वस्त्र पहिनना धर्मका अंग है या धर्मका उपकरण है, ऐसा नहीं मानता, किन्तु अपनी कमजोरी समझता है कि मैं अभी अंतरमें पूरा निरपेक्ष नहीं बन पाया और ये रखना पड़ता है, पर जो बाहरी चीजोंको रखकर उसे उपकरण मान ले तो उसके नियमसे मिथ्यात्व ही है। कोई लाल पीले वस्त्र रखते हैं, कोई टाटके वस्त्र रखते हैं और अपनेको गुरु मानते हैं, मोक्षमार्ग मानते हैं, सो यह मार्ग नहीं है। जिनसूत्रमें तो एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर पाणिपात्र वाला भेष ही मोक्षमार्ग बताया है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं। मोक्ष मायने क्या है ? केवल रह जाना। जो मैं आत्मा स्वयं एक अकेला परिपूर्ण सत् हूं, मात्र वही-वही रह जाय, कोई परका सम्पर्क न रहे, बंधन न रहे, केवल यह एक स्वतंत्र निराला बन जाय इसको कहते हैं मोक्ष। तो जो

ऐसा अपने आत्माको निराला होना चाहता है वह तो छोड़ने-छोड़नेका ही कार्य करेगा, पर ग्रहण करनेका कार्य न करेगा। ग्रहण करना पड़े यह उसकी एक परिस्थिति है, पर ग्रहण करके उसे धर्म न समझेगा। त्याग यों करता है कि उसको केवल रहना है, केवलकी दृष्टि है तो कुछ सहज त्याग होता है। कुछ बाधक जान करके उनका त्याग किया जाता है। तो ऐसा जिनशास्त्रमें एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग बताया है, अन्य भेषको मोक्षमार्ग नहीं कहा।

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥

(१०२) **ससंयम महात्माकी वन्दनीयता**—पहली गाथामें यह बताया है कि एक यथार्थ दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, तो वह मोक्षमार्ग कैसे है? क्यों है उसका कुछ वर्णन इस गाथामें है। जो दिगम्बर मुद्राका धारी मुनि इन्द्रिय मनको वश करके अपने आत्मतत्त्वको चिन्तनमें लेता है वहाँ मोक्षमार्ग है। मुक्ति पानेके लिए साक्षात् दृष्टि तो अपने कैवल्य स्वरूपपर चाहिए। पर चूँकि यह जीव इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमें मनके विषयभूत पदार्थोंमें अनादिसे लगा चला आ रहा है तो उनसे निपटनेका अभी एक काम पड़ा है। उस निपटनेका काम बनानेके लिए व्रत नियम तप आदिक ये सब बाह्य बातें हैं। करनेका काम तो अंतरंगमें अविकार चित्स्वरूपमें अहंका अनुभव करना है। ये युद्ध करने वालोंके हाथमें शस्त्र और ढाल दो चीजें रहती हैं। अब आजकल इन शस्त्र और ढालोंका कुछ रूप बदल गया मगर शस्त्र और ढाल ये दोनों ही आवश्यक हैं। शस्त्र तो शत्रुका संहार करनेके लिए है, ढाल शत्रुका आक्रमण बचानेके लिए है। ऐसे ही संसारतत्त्वका नाश करनेके लिए जो सम्यग्दृष्टिने अन्दरमें संग्राम छेड़ा है उसके लिए शस्त्र और ढाल ये दोनों आवश्यक हैं। शस्त्र तो है शुद्धस्वरूपकी दृष्टि और ढाल है व्रत, तप, नियम आदिकका पालन, क्योंकि ये काम, क्रोध मान, माया, लोभ यह शत्रुका आक्रमण सुगमतया, शीघ्र हो, तुरन्त ही अपनी एक प्रकृति और अभ्यासके अनुसार उनका आक्रमण बचाना चाहे कोई तो शुभोपयोगमें आये। आक्रमण बच जायगा। शुभोपयोग तो है ढाल और शुद्धोपयोग है शस्त्र, और शस्त्रके बिना कोई योद्धा विजय प्राप्त नहीं कर पाता तो ऐसे ही अथवा उससे भी अधिक आवश्यक है कि शुभोपयोगकी ढालसे तो अशुभोपयोगका आक्रमण बचाया और शुद्धोपयोगके शस्त्रसे इन कर्म शत्रुओं की जड़ उखाड़ा। यह ही एक धर्ममें करना होता है।

(१०३) **शुद्धोपयोगके अपात्र व शुद्धोपयोगसे घृणा करने वालोंके द्वारा आने वाले संकटका चित्रण**—चूंकि शत्रुसंहार किया जाता है शुद्धोपयोगसे सो शुद्धोपयोगकी रीति तो

प्राप्त हुई नहीं, किन्तु एक विचित्र बात प्रसिद्ध करनेके लिए, अपनी ख्याति चाहनेके लिए अथवा कुछ करना न पड़े और हम धर्मात्मा कहलायें इसके लिए चर्चा तो शुद्धोपयोगकी हो और शुभोपयोगको अत्यन्त हेय बताकर तीर्थप्रवृत्तिका लोप किया जाय तो यह उसकी एक स्वच्छंदता है । आज नये आदमी, नये मनुष्य जो धर्म मार्गमें टिक रहे हैं, जिनको मौका मिलता है कि वे निश्चयकी बात शुद्ध तत्त्वकी बात कभी समझ लें । यदि यह तीर्थपरम्परा ही नष्ट करदी और शुरूसे ही उनको उपदेश किया जो अशुभोपयोगमें बढ़ रहे हैं कि शुभोपयोग तो बिल्कुल हेय है तो उनका बढ़ना कैसे बनेगा ? जैसे किसीको बम्बई जाना है तो बीच के सभी स्टेशनोंको पार करके बम्बई पहुंचेंगे । अब कोई कहे कि बम्बई जाना है तो बीचके स्टेशनोंसे गुजरना बुरा है तो फिर मत गुजरो । उससे उसे बम्बई न मिलेगी । तो ऐसे ही मोक्षमार्गमें जो प्रगतिसे गमन करते हैं वे शुभोपयोग द्वारा आक्रमणका वार बचाकर शुद्धोपयोगके प्रयोगसे भावकर्म शत्रुका विनाश करते हैं । द्रव्यकर्म स्वयं नष्ट होते हैं ।

(१०४) **इन्द्रिय व मनको वश करके आरंभ व परिग्रहका त्याग करने वालोंकी बन्दनीयता**–मुनिजन इन्द्रिय मनको वश करके अपने आपके चिन्तनमें बढ़ा करते हैं । ६ काय के जीवोंकी दयारूप संयमसे सहित होकर ये आरम्भ परिग्रहसे दूर होते हैं । आरम्भ और परिग्रहसे दूर हुए बिना इस ज्ञानमात्र आत्मामें रमण न बन सकेगा । तो जो आरम्भ और परिग्रहका त्याग करेगा उसने जीवदया तो धारण कर ही ली, क्योंकि आरम्भ और परिग्रहके रहते हुए जीवदया पूर्ण नहीं निभ सकती । तो पूर्ण जीवदयाका निभाव तो निष्परिग्रह निरारम्भ पुरुषके हो पाता है. तो जो मुक्तिमार्गमें चलना चाह रहा है वह असंयममें प्रवृत्ति नहीं करता, ब्रह्मचर्यमें स्थिर रहता है,. ऐसा पुरुष सुर-असुर द्वारा भी बंदनीक है । बुद्धिमान पुरुषों द्वारा भी बंदनीक है । वह तो है जिनमार्ग और इसके अलावा जो एक बाहरी भेष है, परिग्रह वाला है, आरम्भ वाला है वह भेष बंदनाके योग्य नहीं है ।

(१५०) **व्यवहारविनयमें भी ज्ञानी द्वारा रत्नत्रयकी वन्दना**—बंदना किसकी की जानी चाहिए ? दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी । धर्मात्माका जो बंदन करता है सो यह स्मरण करता है कि इन्होंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको आदर दिया है, ये इन्हें अपनी शक्तिके अनुसार पाल रहे हैं । यह सब बात जिसकी श्रद्धामें है । वही तो उसका बंदन करता है । तो बंदन करनेमें दृष्टि रत्नत्रयकी ओर ही हुआ करती है । जैसे जिस जिन प्रतिमामें अरहंत देवकी स्थापना की है उसको बंदन करते समय अरहंतदेवका ही स्मरण रहता है और उस स्मरणके साथ जिनविम्बको पूजता है तो ऐसे ही जो गुरुजनोंकी बंदनाकी जाती है सो सामने दृष्य तो शरीर है, पर शरीरका बंदन नहीं है, किन्तु शरीरमें रहने वाला आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,

Version 1

सम्यक्‌चारित्रका आदर रखता है और उसका पालन करता है, यह उसके स्मरणमें है तो उस ने बंदना की है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्रकी। भाव वंदनीय है और भाव ही संसारमें भ्रमाने वाला है। भाव ही मोक्षमें पहुंचाने वाला है। तो जिसको अपने आपमें उन्नति में ले जानेकी भावना है उसे अपने भावोंमें सुधार करना है। भाव निरपेक्षताका रहे। हिंसा, झूठ, चोरी आदिक पापोंसे दूर रहे, ईर्ष्या आदिक दुर्भावनाओंसे दूर रहे, अपने आपमें अपने अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिकी उमंग रहे, यह ही सार है। यह ही लोकोत्तम है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कार्य नहीं है, ऐसी दृढ़ भावनाके साथ अपने आत्माकी ओर अभिमुख रहे, ऐसी वृत्ति करने वाला आत्मा वह गुरु है। जिससे हम सीख लें वह गुरु, जिस की मुद्रासे सीख, जिसकी वृत्तिसे सीख, जिसके ज्ञानसे सीख, जिसकी क्रियासे सीख। सीखसे क्या मिला ? उस रत्नत्रयका अनुमान हो गया तो वहाँ रत्नत्रयकी बंदना है, और प्रतिबिम्ब के समक्ष उस रत्नत्रयका फल पाये हुए विशुद्ध निर्विकार वीतराग सर्वज्ञ परमात्मतत्त्वकी बंदना है। जो अपनेको केवल होना चाहता है वह केवलकी ही आराधना करे। यह ही बात निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुवोंके होती है। वही एक रास्ता है। अन्य जो भेष बनाये जाते हैं वे मुक्तिके रास्ता नहीं हैं।

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता।
ते होंदि वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥ १२ ॥

(१०६) **परीषहविजयी साधुवोंकी वन्दनीयता**—जो मुनि अपनी पूरी शक्ति सहित शत शक्तियोंसे युक्त होकर २२ परीषहोंको सहते हैं वे साधु वंदनाके योग्य हैं, वे कर्मक्षयको निर्जरामें प्रवीण हैं। कर्मका क्षय होता है सहज अविकार ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वमें उपयोगको लीन करनेसे। अब इस प्रकारकी अंतर्वृत्ति जो मुनि कर रहा हो उसके बाहरमें अनेक उपसर्ग आते हैं, उन उपसर्गोंमें चिगे नहीं और उनपर विजय प्राप्त करे तो वह अपने कर्मक्षयके कार्य में सफल होता है। तो यहाँ यह जानना कि जो ऊपर शरीरपर बीत रही है, जो उपद्रव आ रहे हैं उन उपद्रवोंको सहने मात्रसे मोक्षमार्गमें नहीं बढ़े वे, किन्तु उपसर्ग सहे बिना, समता धारण किए बिना अपनी अंतर्दृष्टिमें सफल नहीं हो सकते थे, इसलिए परीषह विजयको कर्म-निर्जराका कारण कहा। प्रयोजन यहाँ यह है कि कितने भी उपद्रव आयें उन उपद्रवोंमें विचलित न होकर अपने स्वरूपमें मग्न होना यह मुनिका प्रवर्तन रहता है।

(१०७) **मुनिके क्षुधा तृषापरीषहका विजय**—परीषह २२ कहे गए हैं। (१) क्षुधा परीषह—बहुत तप करनेके कारण, अनशनके कारण, कोई व्याधि आदिकके कारण क्षुधाकी तीव्र वेदना हुई तो भी अपने अंतः स्वरूपका ग्रहण करके संतुष्ट रहे, इस वृत्तिको क्षुधा परीषह

जय कहते हैं । (२) तृषापरीषह—ग्रीष्म ऋतुके कारण, अनेक उपवासोंके कारण उसमें साधारण व्याधिके कारण तृषाकी वेदना हो गई हो तो उसे समतासे सहकर अपने शुद्ध ज्ञानामृत का पान करके तृप्त रहना यह तृषा परीषह विजय है । क्षुधा और तृषामें तीव्र वेदना तृषाकी होती है और यह बताया गया कि वेदनाके चार प्रकार होते हैं—तीव्रतम, तीव्र और मंद, मंदतम । अधिक तेज, तेज, हल्का, बहुत हल्का । इन चार वेदनाओंमें से क्षुधाकी दो वेदनायें हैं—तेज और हल्का । पर प्यासमें ये दो तरहकी वेदनायें तो हैं ही, पर बहुत तेज और बहुत हल्का ये दो प्रकारकी भी वेदनायें हैं । हल्की प्यास, विशेष प्यास, तेज प्यास, बहुत तेज प्यास । तो क्षुधासे तृषाकी वेदना अधिक है, पर वेदना मुनिके लिए कुछ नहीं है । जिसने शरीरको अपनेसे अत्यन्त पृथक् निरख लिया और शरीरसे निराला सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लिया वह शारीरिक वेदनासे विचलित नहीं होता । सब भीतरी साहसकी बात है । जैसे सम्मेद शिखर जी के पहाड़पर बहुतसे बुड्ढा बुड्ढी पैरोंसे भी लंगड़े अपने आत्मबलके कारण पूरी वंदना करके आ जाते हैं और कितने ही नवयुवक शरीरसे हट्टे कट्टे थोड़ा ही चलकर साहस छोड़ देते हैं, पहाड़की ऊँचाई देखते हैं तो वे लौट आते हैं । यह साहसका ही तो फर्क है । जिसने पूरी ठान ली कि शरीरसे मेरा कुछ सम्बंध नहीं, प्रयोजन नहीं, मैं तो ज्ञानमात्र हूं, अपने स्वरूपको ही निरखूंगा, ऐसी पक्की ठान लेने वाले पुरुषको शारीरिक वेदना विचलित नहीं करती । यह सब मोह रागद्वेषके होने और न होनेका अंतर है । मोही पुरुष तो शरीरकी तो बात क्या, बाह्य पदार्थोंको टूटा-फूटा देखकर जिससे इनको ममता है, ऐसे दु:खी होते हैं जैसे मानो उनपर बुखार ही चढ़ गया हो, कोई भींत गिर गई, कोई कुटुम्बमें किसीको वेदना हो गई या कहीं नुक्सान हो गया तो वह ऐसा अनुभव करता कि जैसे मानो तेज बुखार ही चढ़ गया हो, ये सब मोहके प्रभाव हैं । जिसने अपने आत्मसत्त्वको शरीरसे निराला निरख लिया उसको शारीरिक वेदना कैसे विचलित कर सकती ।

(१०८) मुनिके शीत उष्ण व दंशमशक परीषहका विजय—(३) शीत परीषह—ठंडके दिनोंमें ध्यान कर रहे हैं, जंगलमें रहा करते हैं, कोई ठंड बचानेका साधन नहीं रखते, फिर भी अपने ध्यानमें रहा करते हैं । जिसने अपने आत्मामें ध्यान बनानेका ही एक जीवन का सर्वस्व सार समझा उसको मरणका भी भय नहीं होता । उसकी दृष्टिमें है कि मैं आत्मा अमर हूं मैं इस अमर आत्माको ही निरखता रहूं और इस अंतस्तत्त्वको निरखनेके साथ इस देहसे विदा हो गया तो मेरा बिगाड़ कुछ नहीं है, क्योंकि शरण सार तो आत्मतत्त्वमें निवास है, सो वह मेरा बन रहा, ऐसा निर्णय रखने वाले पुरुषको शीत आदिक परीषह नहीं होते, उनसे विचलित नहीं होते । (४) उष्ण परीषह—गर्मीके दिन हैं, तेज लपट चल रही है,

Version 1

पर्वत या मैदानमें कहीं बैठे हैं, वह साधारण जनोंके लिए बड़ी तीव्र वेदना है, पर जो अपने ज्ञानामृत सरोवरमें मग्न हो रहे हैं, निरन्तर उपयोग जिनका इस शुद्ध ज्ञानमात्र स्वभावमें लग रहा है उनको तो ख्याल भी नहीं आता कि कौनसा काल है, कहाँ बैठे हैं ? तो ऐसे भीषण गर्मीके प्रकोपके उपद्रवको भी समतासे सह लेवे और अपने अंतः इस ज्ञानसरोवरमें उपयोगको मग्न करें यह है उष्ण परीषह विजय । (५) दंशमसक परीषह—कहनेको तो छोटा डाँस मच्छर है, मगर वह काटे तो उसकी क्या वेदना होती है ? साधारण जन जरा भी नहीं सह सकते और उस वेदनासे पीड़ित होकर वे मच्छरको भगानेका भी ख्याल नहीं रखते, किन्तु मच्छरपर ऐसा हाथ मारते कि उसके प्राण भी चले जायें । तो डांस मच्छर काटे उस समय भी मुनि अपने इस अमूर्त ज्ञानस्वरूपका चिन्तन करते हुए विचलित नहीं होते यह उनका दंशमसक परीषह विजय है । उनकी भावना रहती है कि मैं आत्मा अमूर्त हूं इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं । आकाशद्रव्यके समान अमूर्त है, इसमें किसी वस्तुका प्रवेश ही नहीं, शरीर पुद्गल है, इसमें ही मच्छरका भिड़ाव है, इतने सम्बोधनकी बात मुनिके बनी रहती है कि जिसके कारण दंशमसककी वेदनासे विचलित नहीं होता ।

(१०९) **मुनिके नाग्न्य व अरति परीषहका विजय**—(६) नाग्न्यपरीषह विकाररहित हुए बिना नग्न होना कठिन है । कोई जबरदस्ती ही पूजा प्रतिष्ठाके लोभसे नग्न हो जाय तो वह वास्तविक नग्नता नहीं है । नग्नता वह है कि बाहर भी नग्न है और भीतर भी नग्न है । नग्न नाम है उसका कि दूसरा पदार्थ संबंधमें न रहे, शरीर अकेला ही रहे, उस पर वस्त्रादिक नहीं हैं उसे कहते हैं नग्न । तो भीतरमें नग्न क्या कहलाता कि जिसके उपयोगमें केवल आत्मस्वरूप है, विकारका लगाव नहीं, विकार वस्त्र नहीं पहिचानता है, सो आत्मस्थिति होना यह है भीतरी नग्नता । तो नग्न होकर लज्जा या ग्लानि या भीतरी विषाद या संकोच आदिक किसी भी प्रकारकी कषाय नहीं रहती, जिससे कि निःशंक वह अपने स्वरूपके ध्यानमें मग्न रह सके, ऐसी समताको नग्नपरीषह जय कहते हैं । (७) अरतिपरीषह जय—प्रतिकूल पदार्थका संयोग हो जाय, मुनिको इष्ट नहीं, ऐसी बात भी आ जाय तो वहाँ भी अरति न करना । द्वेष ग्लानि न करना, उस स्थितिका भी ज्ञाता द्रष्टा रहना और यही निर्णय पुष्ट रखना कि अनिष्ट समागम क्या ? बाहरी पदार्थ हैं, उनका परिणमन है, उनसे मेरेमें कोई बिगाड़ नही है, ऐसे प्रतिबोधसे अपने आपमें समता बनाये रखना अरतिपरीषह विजय है ।

(११०) **मुनिके स्त्री व चर्या परीषहका विजय**—(८) स्त्रीपरीषहविजय—कोई स्त्री या देवी अपने मनोज्ञ रूपको देखकर हाव भाव दर्शाकर इसको डिगाना चाहे तो यह न

चिगे और यह जाने कि जिसको विकारभाव होता है वह क्षणिक भाव है, वह अपनेको सम्हाल नहीं पाता और विकारभावमें लग जाता है। तो यह ही संसारमें जन्ममरणकी परंपरा बनाये रहनेका साधन है। मुझे जन्म मरण न चाहिए। मेरा स्वभाव तो ज्ञायकभाव है। है और अंतः झलझलाता रहे, प्रतिभास स्वरूप रहे, इसमें विकारकी गुँजाइस नहीं, विकार तो उदय में आये कर्मरसका फोटो है, उसमें मेरा नेह नहीं। मैं तो अपने सहज स्वरूपमें ही मग्न रहूंगा, ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञाके साथ जो अंतः ध्यान करते हैं और स्त्रीकृत उपद्रवसे चिगते नहीं हैं उनके है यह स्त्रीपरीषह विजय। (९) चर्यापरीषह विजय—गमन करते हुएमें नुकीले कंकड़, काँटे भी छिदते जायें फिर भी चित्तमें ग्लानि न रखे और उससे अपने आपकी शुद्धतासे न चिगे, ऐसे निर्मल परिणामकी ओर ही रहना इसे कहते हैं चर्यापरीषहविजय। (१०) निषिद्या परीषहविजय—निषिद्या कहते हैं बैठनेको। एक ही आसनसे निश्चल बैठे हुए आत्माके ध्यान में मग्न होना, शरीरको चलायमान न करना, ध्यानको अविचल बनाना यह है निषिद्यापरीषह विजय।

(१११) मुनिके शय्या व आक्रोश परीषहका विजय—

(११) शय्या परीषह विजय—साधु जन पलंग, खाट, कोमल शय्या आदिक पर शयन नहीं करते। भूमि, काष्ठ शिला आदिक पर शयन किया करते हैं, और एक ही करवटसे शयन करते हैं। उनको इतनी सावधानी है कि दूसरी करवट लेनेकी आवश्यकता समझा तो पिछीसे अपने शरीरको पोंछकर और उस जमीनको पोंछकर निर्जन्तु स्थान बना कर करवट लिया करते हैं प्रथम तो दूसरी करवट लेनेकी उन्हें आवश्यकता ही नहीं, पर कोई शारीरिक रोग आदिक कोई बात ही आ जाय और करवट लेना ही पड़े तो पिछीसे शरीरको झाड़कर उस पृथ्वी स्थानको झाड़कर करवट लेते हैं, इतना शरीरकी सावधानी है। तो एक ही करवटसे थोड़े समय पृथ्वी पर शयन करना और उस ही स्थितिमें अपने अंतस्तत्वकी ओर उपयोग लगाकर संतुष्ट रहना यह है शय्यापरीषह विजय। (१२) आक्रोश परीषहजय—आक्रोश कहते हैं गालीको। किसी दुष्ट पुरुषने गाली दी तो उस गालीको सुनकर रंच भी खेद न करना और जानना कि गाली क्या है ? इस पुरुषके ऐसा ही भाव उपजा है, कषाय उपजी है कि उससे प्रेरित होकर शरीरके मुख आदिक चल उठे और उन्हें सुनकर उपयोगसे भाषावर्गणायें शब्दरूप परिणमी है, तो ये सब बाह्य परिणमन हैं, इनसे मेरेको क्या सम्बन्ध है। मेरेको कुछ नहीं कहा गया, मेरेमें कोई बाधा नहीं आयी। मैं तो निर्बाध अमूर्त ज्ञानघन हूं। ऐसा अपने स्वरूपको देखता हुआ मुनि दूसरेके द्वारा दी गई गालीसे विचलित नहीं होता और अपने ध्यानमें अग्रसर रहता है। ऐसे प्रवर्तनको कहते हैं आक्रोश

परीषह विजय ।

(११२) **मुनिके बध व याचना व अलाभ परीषहका विजय**— (१३) बधपरीषह जय । कोई दुष्ट पुरुष गाली देकर भी संतुष्ट नहीं होता तो वह लाठी या अन्य किसी शस्त्रसे प्रहार करता है उस समय भी यह मुनि अपने आत्माको शरीरसे पृथक् सत्ता वाला निरखकर और अपने ही इस ज्ञानस्वरूपमें उपयोगको लगानेकी ठानकर अन्दर ही रमकर प्रसन्न रहता है, ऐसी स्थितिको कहते हैं बधपरीषह जय । सुकुमालको गीदड़ीने खाया, सुकौशलको शेरने खाया, किसी मुनिकी चमड़ीको चाकूसे उतारा, किसी मुनिको कडेमें बेड़कर अग्नि लगा दी । बड़े कठिन-कठिन उपद्रव उपसर्ग भी आये, पर धन्य है उनका ज्ञान, उनकी लगन कि शरीर को एकदम बाह्य पृथ्वीवत् जानकर उससे विरक्त हुए अपने ही स्वरूपमें मग्न रहते हैं । ऐसा उपसर्ग सहने वाले अनेको मुनियोंने अपनी अंत: तृप्तिके बलसे मुक्ति भी पायी । तो संसारके जन्ममरणसे छूटनेका एक इतना बड़ा महत्त्व जानते हैं मुनि कि उसके उपायमें आत्मध्यानसे कभी विचलित नहीं होते । (१४) याचना परीषहजय– बड़ी भूख लगी हो, प्यास लगी हो रोग लगा हो फिर भी अपने आरामके लिए किसी वस्तुकी याचना न करना और हर स्थिति में कर्मविपाकरसका खेल जानकर और उससे पृथक् अपने अमूर्त ज्ञानानन्द स्वरूपको निहार कर प्रसन्न रहना, यह है याचनापरीषह विजय । (१५) अलाभ परीषहविजय– बहुत दिनोंके उपवाससे भी है और चर्या कर गए । विधि न मिली, लाभ न हुआ तो उस अलाभमें भी लाभके समान समझकर प्रसन्न रहना और अपने ज्ञानस्वरूपकी धुनमें आना यह है अलाभ परीषह विजय । यह सब हो कैसे जाता यह बात उनकी समझमें नहीं आ सकती जिनको अविकार सहज निज ज्ञानस्वरूपमें रमनेकी धुन नहीं बन पायी । जिनके आत्मस्वरूपमें रमण करनेकी धुन बनी है उनके लिए सब सुगम है । कुछ बात ही नहीं है । अपना काम करना यह उनका प्रधान लक्ष्य है । अपने कामके मायने आत्मस्वरूपके विकासका कार्य । याने अंतस्तत्त्वको निरखते रहना इस धुनके कारण ये सब परीषह उनके लिए कुछ भी कष्ट रूप नहीं हैं ।

(११३) **मुनिके रोगपरीषहका विजय**—(१६) रोगपरीषह—कोई कठिन रोग हो जाय फिर भी उसके चिकित्साकी वाञ्छा नहीं, उसमें घबड़ानेकी वृत्ति नहीं, किन्तु वही ध्यान जो चलता आया था उसीमें आत्माका उपयोग बना हुआ है यह है रोगपरीषहविजय । सनत कुमार चक्रवर्ती कामदेव माने गए, उनका बहुत ही सुन्दर रूप था, जिनको देखनेके लिए देवता तक भी तरसते थे, आते थे, वे मुनि हो गए और कोई पूर्वकृत पापकर्मका उदय आया, असाता वेदनीयका रस चढ़ा, उनके शरीरमें कुष्ट रोग हो गया । अब तुलना करो—कहाँ तो

वह सुन्दर रूप और कहाँ कुष्टकी वेदना, विडरूप हो जाना, पर उस समय वह सनत कुमार मुनि अपने आत्मध्यानमें सावधान ही थे। शरीर तो गलेगा, जलेगा, छूटेगा, उसका क्या लगाव रखना ? बड़े विरक्त थे, इस बातकी भी महिमा स्वर्गमें फैली। जैसे पहले सुन्दर रूप की चर्चा स्वर्गमें फैली थी वैसे ही अब उनके वैराग्यकी चर्चा स्वर्गमें फैल गई। एक देवके मनमें आया कि मैं देखूं तो सही कि कैसा विरक्त हैं सनत कुमार, सो एक वैद्यका रूप रखकर झोलेमें अनेक प्रकारको दवायें रखकर जहाँ सनत कुमार चक्रवर्ती मुनि ध्यान कर रहे थे, उनके सामनेकी गलियोंसे चल-फिरकर जोर जोरसे कहते जायें कि लो दवा खरीदो दवा, हमारे पास सब प्रकारकी अचूक दवायें हैं। क्या कुष्ट रोग, क्या राज रोग, क्या जलोदर रोग, सभी प्रकारके मर्जोंकी शर्तिया दवायें हैं, लो दवा खरीदो दवा। इस प्रकारकी वृत्ति देखकर सनत कुमार मुनि सब समझ गए कि यह व्यक्ति मेरेको संकेत करके इस प्रकारसे कह रहा है, सो अपने पास बुलाया और पूछा कि भाई तुम्हारे पास कौन-कौनसी औषधियाँ हैं ? तो वह कहने लगा कि कुष्टकी है, राज रोगकी है, अमुक रोगकी है, बोलो तुम्हें कौनसी दवा चाहिए ? तो सनत कुमार बोले कि मैं जिस रोगकी औषधि चाहता हूं उसे आप न दे सकेंगे। वहाँ उस देवको कुछ कल्पना ही न थी कि यह क्या कहेगा, सो वह बोला—हाँ हाँ हम दे सकेंगे, बोलो तो सही तुम्हें किस रोगकी दवा चाहिए ? तो सनत कुमार मुनि बोले—देखो मेरेको जन्म मरणका एक बड़ा भयंकर रोग लगा है, वह लगा है अनादिकालसे, यदि उस जन्म मरणका रोग मेटनेकी कोई अचूक दवा हो तो वह आप दे दीजिए। तो वहाँ वह देव सनत कुमारके चरणोंमें लोटकर बोला—महाराज, मुझे आप माफ करें। जन्म मरणके रोग की दवा देनेमें मैं समर्थ नहीं। आखिर वह उस बनावटी भेषको छोड़कर अपने सही रूपमें आ गया और कहने लगा—महाराज धन्य है आपका वैराग्य। आपके वैराग्यकी जो चर्चा मैंने स्वर्गोंमें सुनी थी वह शत प्रतिशत सही थी। तो भयानक रोग आनेपर भी उस रोगकी वेदनासे विचलित न होना और अपने आपके रोगरहित, विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रखना यह है रोगपरीषह विजय।

इस गाथामें कहा जा रहा है कि जो अपनी शक्तिके अनुसार २२ परीषहोंको सहते हैं, समता धारण करते हैं वे मुनि कर्मोंके क्षय और निर्जरामें प्रवीण होते हैं, क्योंकि इच्छा निरोधको ही निर्जरा बताया गया है। कर्मबंधका कारण है इच्छा और तपमें इच्छानिरोधकी ही मुख्यता है जिसकी वजहसे परीषह न सह सके वह तो बंधका साधन है और देहसे अपने को निराला जानकर अपने स्वरूपमें रमना यह इच्छानिरोधका रूप है इससे निर्जरा होती है।

(११४) मुनिके तृणस्पर्श, मल व सत्कारपुरस्कार परीषहका विजय—(१७) तृण

Version 1

स्पर्शपरीषहजय—मुनिराज तृणस्पर्शपरीषहके विजयी होते हैं, तृणका पैरोंमें चुभ जाना, कांटे लग जाना, चले जा रहे हैं देख भालकर जा रहे हैं फिर भी कोई कांटा लग गया पैरोंमें तो उससे ऐसा ग्लान नहीं हो जाता कि परिणामोंमें विकार आये और अपने स्वरूपके ध्यानसे बिल्कुल चिग जाय। उस समय भी अपने स्वरूपमें रमना ऐसा तृणस्पर्श परीषह विजय है। (१८) मलपरीषहजय—शरीरमें मल आ गया, वे स्नान करते नहीं, कितना ही मल लगा हो तो भी उससे मनमें ग्लान न होना, दुःखी न होना यह है मलपरीषहविजय। जब शरीर ही पृथक् दिख रहा है मुनियोंको और केवल एक अपने आत्मसत्त्वसे ही अनुराग है तो वे मल निरखकर, देहका मैल देखकर वे दुःखी क्यों होंगे ? वे तो ज्ञाता ही रहते हैं। (१९) सत्कार पुरस्कार परीषह विजय—कोई लोग सत्कार न करें तो भी उसका कोई असर नहीं होता मुनियोंको अथवा सत्कार करें तो उसका भी असर नहीं होता। लौकिक प्रशंसा सुनकर उन्हें संतोष नहीं होता, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें रमकर ही उन्हें संतोष होता है। निन्दा करे कोई तो वे जानते हैं कि यह बेचारा अज्ञानी है। इसका स्वरूप तो है प्रभुतुल्य, मगर कर्मों का ऐसा आवरण छाया है कि यह जीव अज्ञानी होकर कषायवृत्तिमें चैन मानता है। कषायवृत्तिसे प्रेरित होकर जिसमें शान्ति जँची वैसी अपनी प्रवृत्ति कर रहा है, मेरेको कुछ नहीं कह रहा, शरीरको भी कुछ नहीं कह रहा, किंतु उसके कषायकी वेदना हुई तो अपनी कषाय की वेदनाको वह शान्त कर रहा है। फिर मैं आत्मा तो अमूर्त हूं, किसी दूसरेके द्वारा पहिचानमें न आ सके, ऐसा ज्ञानज्योतिर्मय हूं, इसका तो इस निन्दा करने वालेको परिचय ही नहीं है। यदि परिचय होता तो यह गुणानुराग ही करता, क्योंकि आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप और उसका वह परिचय कर लेवे तो उसमें ही उसका अनुराग जंचता है। तो अज्ञानी जनों द्वारा गाली दिए जानेपर, निन्दा किए जानेपर, सत्कार न किए जानेपर उन्हें क्षोभ नहीं होता और वे अपने स्वरूपमें रमनेके पौरुषमें बढ़ते ही रहते हैं। यह है उनका सत्कार पुरस्कार परीषहविजय।

(११५) मुनिके प्रज्ञा, अज्ञान व अदर्शनपरीषहका विजय—(२०) प्रज्ञापरीषहजय—तपश्चरण साधनाके बलसे कोई विद्या सिद्ध हो जाय, ज्ञान बढ़ जाय, अवधिज्ञानादिक हो जायें तो उसका उन्हें घमंड नहीं होता। वे यथार्थ तत्त्वको जानते हैं कि आत्माकी परम ऋद्धि तो केवलज्ञान है। जिससे कि तीन लोक और अलोकके समस्त पदार्थ ज्ञानमें आया करते हैं। और ये जो कुछ थोड़े ज्ञानातिशय हुए हैं ये तो कुछ भी चीज नहीं हैं, उन्हें इस बातका घमंड नहीं होता, और कितनी ही ऋद्धि सिद्धि हो जानेपर भी अपने आपके स्वरूपमें उपयोग लगाये रहनेका पौरुष बनाये रहते हैं। उस ओर तो दृष्टि भी नहीं जाती, यह है उनका प्रज्ञापरीषह

विजय । (२१) अज्ञानपरीषहविजय—बहुत तपश्चरण साधना करनेपर भी यदि अवधि ज्ञानादिक कोई अतिशय नहीं पैदा होते तो उन्हें खेद नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि बड़े अतिशय ऋद्धियाँ नहीं मिलीं तो क्या हुआ, यह तो एक आंशिक बात है, और आत्माका स्वभाव तो अनन्त चतुष्टयका है । अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्द, ऐसा महान स्वरूप है, और कुछ ज्ञान हो जाना, कुछ ऋद्धियाँ हो जाना, ये तो सब छोटी ही बातें हैं, उनके न होनेका मुनिजन कष्ट नहीं मानते । ऐसे सिद्ध भगवान बहुत हैं जिनको मुनि अवस्थामें श्रुतज्ञान भी पूरा न था, श्रुत केवली भी न वन सके थे, और तपश्चरण करके मोक्ष हुआ, परमात्म स्वरूप प्रकट हुआ, तो केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोकको निहारने लगे । तो साधुवोंको अपने आपमें कोई अतिशय न प्रकट हो तो उनको कोई खेद नहीं होता । (२२) अदर्शन परीषह—कोई बात प्रकट न होनेपर ऋद्धियाँ न होनेपर ऐसी कुदृष्टि नहीं बनती मुनियोंके कि मैंने इतने वर्ष तक ऐसी साधना की और मेरेको कोई अतिशय ही नहीं बन पाया तो कहीं यह मार्ग झूठा तो नहीं है, मैं कहीं गलत रास्तेपर तो नहीं हूँ, ऐसी उनको शंका नहीं होती । उनको यह अटल श्रद्धान है कि मेरे इस आत्माका कल्याण है तो आत्मस्वरूपमें निस्तरंग रम जानेमें ही कल्याण है । इस प्रकार ये मुनीश्वर २२ परीषहोंपर विजय करते हैं और कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है ।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेणसम्म संजुत्ता ।
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

(११६) **उत्कृष्ट श्रावककी वाञ्छनीयता**—जैनशासनमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिङ्गको मोक्षमार्ग बताया है । मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही है, मगर दुनियाके लोग कैसे समझें कि इस तरह चलने से यह मुक्तिमें बढ़ता है । तो उसका जो बाह्यरूप है वह है निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष । उसको मोक्षमार्ग ही कहा याने लोकव्यवहारमें जल्दी समझमें आये लोगोंको और रत्नत्रयके धारियोंकी वह चर्चा भी है इस कारण उसे व्यवहारमें मोक्षमार्ग कहते हैं । तो उस निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिङ्गके अतिरिक्त अन्य जो लिङ्ग है उत्कृष्ट श्रावकका जो दर्शन ज्ञानसे भले प्रकार संयुक्त है, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी उत्कृष्ट श्रावक वस्त्रसे भी सहित है तो भी वह वांछनीय है, इष्ट है तो वह भी भक्तिके योग्य है, क्योंकि मार्ग तो वही है । दृष्टि लक्ष्य भी वही है । उत्कृष्ट श्रावकका उनका एक भेष है । जैसे कि बाह्य परिग्रह कुछ भी आत्माके लिए हितकारी नहीं हैं ऐसा जानकर समस्त परिग्रहोंका त्याग करके निर्ग्रन्थ साधुपना होता है तो उत्कृष्ट श्रावकके भी ये बाह्य वस्तु हितकारी नहीं हैं, ऐसा जानकर उनका त्याग क्या करना है ? त्याग करते करते केवल एक अल्प बात रह

Version 1

गई। एक दो वस्त्रका धारण करना मात्र जिनके रह गया है ऐसे उत्कृष्ट श्रावक भी वांछनीय हैं। अपने आपको इष्ट है। यहां इच्छाका अर्थ योग्य कहा, उसका अर्थ वाञ्छनीय है, इष्ट है, यह अर्थ समझना। वहां रूढ़िमें इच्छाका शब्द ही बोल देते हैं। इच्छामि कहा करते हैं, पर इच्छामिका अर्थ क्या है ? मैं इसको चाहता हूं मायने वह उत्कृष्ट श्रावकके भेषको चाहता है, इससे आगे कुछ नहीं चाहता। वह मुनिपना नहीं चाहता, क्या यह अर्थ है ? नहीं। यह अर्थ है कि मैं रत्नत्रयको चाहता हूं। तो रत्नत्रयकी पूर्णता जहां हो उन साधुवों को निरखकर कहना चाहिए कि इच्छामि याने मैं रत्नत्रयको चाहता हूं। इच्छाके योग्य है, इसका अर्थ है कि वह भी वंदनीय है। वह भी इष्ट है। वह भी हमारी भक्तिके योग्य है।

(११७) **वन्द्य गुरु जनोंके प्रति विनयव्यवहार पद्धति**—जो व्यवहारमें विनयकी पद्धति है वह तो इस प्रकार है जैसे कि बताया है—"नमोस्तु गुरवे कुर्याद्वन्दना ब्रह्मचारिणाम्। इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वंदामीत्यार्यिकादिषु।" गुरु निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुवोंको तो 'नमोस्तु' शब्द बोलना चाहिए। ब्रह्मचारी वर्गको सप्तम प्रतिमाधारीके श्रावकको 'बंदनामि' शब्द बोलना चाहिए और जो साधर्मीजन हैं अर्थात् सप्तम प्रतिमाके नोचेके पुरुष साधर्मीजन हैं बताये गए हैं। अव्रती हों या दो एक प्रतिमाके धारी हों उनको इच्छाकार कहना चाहिए। तो इच्छाकारका अर्थ सुनो—इच्छाकार शब्द ही बोलना, यह नहीं, किन्तु तुम्हें जो इष्ट शब्द हो, जो शब्द बोलनेकी तुम्हारी इच्छा हो वह बोलना चाहिए जैसे जय जिनेन्द्र, जय जिनेश, जुहारू या जय वीर···, किसी भी प्रकार प्रभुस्मरण होना चाहिए, और अर्जिका आदिकको बंदनामि शब्द बोलना चाहिए। यहां आदि शब्द दिया है और सप्तमीका बहु वचन शब्द कहा है। आदि शब्द कहकर यदि एक वचन कहे तो वह बहु ग्रहणमें आता। यहां बहुवचन लगाया तो निश्चित हो गया कि कमसे कम तीनको लिया। वे तीन कौन हैं ? अर्जिका, क्षुल्लक और ऐलक, ये तीन लिङ्ग हैं। उत्कृष्ट श्रावकके या उत्कृष्ट श्रावक शब्दसे ही कह लीजिए। अर्जिका भी उत्कृष्ट श्रावक है और क्षुल्लक ऐलक भी उत्कृष्ट श्रावक हैं, उनको बंदनामि बोला जाता है।

(११८) **उत्कृष्ट श्रावकोंकी आत्मतत्त्वाभीप्सा व उपासकोंके लिये अभीष्टरूपता**—यहां जो कहा है कि उत्कृष्ट श्रावक इच्छाकारके योग्य हैं इसमें विशेष रहस्य है याने उत्कृष्ट श्रावक आज भी बहुधा मिल जाते हैं, वास्तविक मुनि होना, उनका संग मिलना तो बहुत दुर्लभ है। जिनको रत्नत्रयसे ही प्रीति हो, बाह्य क्रियाकाण्डोंको कालानुसार करनेपर भी उनमें स्वरूपवत् प्रीति न हो, बाह्य आवश्यक कर्म किए तो जाते हैं मुनि अवस्थामें मगर उनसे उपेक्षा रहती है मायने ये ही मेरे स्वरूप हैं यह दृष्टि नहीं है, पर जैसे कहते हैं ना कि अब

क्या करें, यदि ऐसी स्थिति है तो उसे अपने षट्कर्म करने होते हैं, ऐसे ही मुनि चूंकि अब क्या करें, शुद्धोपयोगमें नहीं रम रहे हैं तो वे भी अपने ६ आवश्यकोंको करते हैं, पर दृष्टि रहती है मात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूपपर । तो ऐसे ही उत्कृष्ट श्रावकोंकी भी दृष्टि अपने अविकार चित्स्वरूपपर रहती है, उसमें ही यह मैं हूँ, ऐसा उनका निर्णय रहता है, पर प्रत्याख्यानावरण कषायका कुछ उदय रह गया है जिससे वे पूर्ण निरीह नहीं हो पाते । वहाँ अज्ञानमय इच्छा का अभाव तो चौथे गुणस्थानसे ही हो जाता है । जिसका अज्ञानमय मिथ्या भाव है उसके मिथ्यात्व ही है, अज्ञानमय क्या ? इच्छा सुहा जाना, राग सुहा जाना, यह ही कहलाता है अज्ञानमय राग । रागमें राग जगना, रागको ही अपना सर्वस्व मानना यह कहलाता है अज्ञानमय राग । सो वह मिथ्यात्व ही है । तो अज्ञानमय भाव तो सम्यग्दृष्टिके किसीके भी नहीं होता । उत्कृष्ट श्रावकके तो होगा ही क्या ? उसका तो व्यक्त रूपसे कितना ही त्याग बढ़ गया है, पर प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें वह यथाजात अविकार नहीं हो पा रहा, लेकिन वह इष्ट है, वांछनीय है, वंदनके योग्य है ।

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिणो जो हु छंडए कम्मं ।
ठाणे ट्ठियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होइ ॥ १४ ॥

(११६) **इच्छाकारमहार्थाभिज्ञताका परिणाम**—वह श्रावक जो इच्छाकारके महान् अर्थको जानता है । इष्ट क्या है ? रत्नत्रय । रत्नत्रयके स्वरूपको जो जानता है और सम्यक्त्व रूप जिसका आचरण है ज्ञान जिसका सही है, चारित्रमें जिसकी उमंग है ऐसा जो प्रतिमाधारी श्रावक अपनी प्रतिज्ञामें रहता हुआ सम्यक्त्वसहित वर्तता हुआ आरंभ कार्यको छोड़ देता है वह परलोकमें सुखको प्राप्त करने वाला होता है । अन्य श्रावक जन भी जो उत्कृष्ट श्रावकसे नीचे हैं वे भी चूंकि सम्यक्त्वसहित हैं, उनकी श्रद्धा निर्मल है, अंतस्तत्त्वकी ही रुचि है वे भी कर्मको छोड़कर, आरंभको छोड़कर अपनी शक्ति माफिक आत्मध्यानमें रमते हैं वे भी परलोकमें सुखको प्राप्त करते हैं । श्रावक सोलह स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं । उससे ऊपर मुनि ही उत्पन्न हो सकेंगे । वे मुनि चाहे मिथ्यादृष्टि भी हों, किन्तु व्यवहार योग्य हो, मंद कषाय हो, समता जिनको प्रिय हो, तपश्चरणकी साधना जिनकी निर्दोष हो, निरतिचार मूल गुणके पालनहार हों वे मुनि नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं । इससे आगे तो भावलिङ्गी मुनि ही उत्पन्न हो सकते अनुदिश और अनुत्तर विमानोंमें । तो श्रावक १६वें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं, किन्तु इस पंचमकालमें चूंकि संहनन छठा ही चल रहा है शरीरका संहनन मजबूत नहीं है और वे इतना निर्विकल्प नहीं बन पा सकते इसलिए वे ८वें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते । छठे संहननका धारी पुरुष ८वें स्वर्गसे ऊपर उत्पन्न नहीं होता । इन

Version 1

सबमें संहननोंके क्रमसे उत्पत्ति बताया है । ऊँचे संहनन वाले पुरुष ही ऊपरके स्वर्गमें और अनुत्तर तक उत्पन्न हो सकते । पर असम्प्राप्तसृपाटिका संहनन पावे । छठा संहनन, इसमें भी ८वें स्वर्गसे ऊपर न उत्पन्न होगा । देखिये विधान चलता है सब भावोंके अनुसार । उस ओरसे देखा जाय तो शंका हो सकती है कि संहननसे क्या मतलब ? भाव ऊँचे होने चाहिएँ। तो कोई हीन संहननका धारी ऊँचे भाव करके दिखाये तो सही । थोड़ा परीषहोंकी बदल तो हो जायगी, मगर उत्तम ध्यान तब भी नहीं बन पाता । तो होता तो भावोंके अनुसार ही काम, मगर ऐसे संहननमें निर्विकल्पता बने ऐसा ध्यान नहीं बन पाता । तो श्रावक आजकल तो ८वें स्वर्ग तक ही जा सकते, वैसे उनकी उत्पत्ति १६वें स्वर्ग तक कही गई है, पर संहनन कम होनेसे ८वें स्वर्ग तक ही जा पाते । तो जो शुद्ध ध्यानपूर्वक चलते हैं वे श्रावक परलोकमें भी सुख प्राप्त करते हैं ।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।
तह वि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ।। १५ ।।

(१२०) **आत्मार्थिताके अभावमें सिद्धिकी असंभवता**—इच्छाकारका अर्थ है अपने आत्माको चाहना । अविकार जो सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र प्रतिभास स्वरूप वह जिसको इष्ट है, वह ही जिसको सर्वस्व है, ऐसी श्रद्धा वालेको कहते हैं कि उसने इच्छाकारका महान् अर्थ समझा । सो जो इच्छाकारका यह महान् अर्थ जानता है अर्थात् सहज परमात्मतत्त्वमें जिसको अनुराग है वह स्वर्गसुख पाता है । मगर जो अपने आत्माको नहीं चाह रहा याने इच्छाकारके महान् अर्थको नहीं समझ रहा वह पुरुष चाहे बहुत ऊँचे बाह्य तपश्चरण कर ले, धर्म कर ले तो भी वह सिद्धिको प्राप्त नहीं होता । वह संसारमें ही स्थित है । आत्मा स्वयं सहज ज्ञानानंद रससे परिपूर्ण है, स्वभाव ही उसका यह है, अन्य कुछ स्वभाव है ही नहीं । इसमें कष्टका नाम भी नहीं है । स्वरूप है, प्रतिभास होता है, ज्ञानमय पदार्थ है, स्वरूप प्रतिभास ही हुआ, यह ही तो कला है इस जीवमें । इसके आगे जो कुछ भी बन रहा है वह सब औपाधिक भाव है । उपाधिका सन्निधान पाकर हुआ यह प्रतिफलन है, उसे ही अज्ञानी सर्वस्व मानता है, फिर अंतस्तत्त्वकी रुचि कैसे हो ? विकारको ज्ञानी पुरुष रंच भी नहीं चाहता, उसके आत्मार्थिता है ।

(१२१) **आत्मार्थिता व अनात्मार्थिताके परिणाम**—वैभव भी ज्ञानीको मिला, पापकर्मका भी प्रतिफलन हो रहा तिसपर भी चूँकि इस ज्ञानीका स्पष्ट निर्णय है अपने ज्ञानानन्दघन सहज स्वरूपका इस कारण रंच भी उसका परिग्रहण नहीं करता । जैसे कोई मुनिपर वस्त्र डाल दे तो मुनि उस वस्त्रका परिग्रहण नहीं करता, मगर डाला तो है बोझ और उसको

गर्मी या जो कुछ भी प्रभाव है वह चल तो रहा, मगर वह मुनि उसको ग्रहण नहीं करता, ऐसे ही जिनके चित्तमें यह परम भेदविज्ञान जगा है कि मेरा स्वरूप तो मात्र चित्प्रकाश है, अब इसपर जो विकार लदा, कर्मरसका प्रतिफलन हुआ उसको यह रंच भी ग्रहण नहीं करता, मगर उस प्रतिफलन होनेपर जो उसकी प्रवृत्ति बन जाती है सो बन भी गई प्रवृत्ति फिर भी उसको ग्रहण नहीं कर रहा। अंतरंगमें ऐसा ज्ञानप्रकाश जगा है कि वह ग्रहण कर ही न सकेगा। जैसे मोही जीव परपदार्थोंके प्रति विकल्प बनाया करते हैं वे उन विकल्पोंको हटा ही नहीं पाते, विकारभावोंको मोही जन हटा नहीं पाते, उनका विकल्प बना रहता है तो जैसे मोही जन विकारोंसे न्यारा अपनेको अनुभव नहीं कर सकते ऐसे ही ज्ञानी पुरुष विकारों को अपना नहीं अनुभव कर सकते। कितने ही उपद्रव आये, पर जिस ज्ञानी पुरुषने अपने अविकार आत्मस्वभावका निर्णय बनाया है वह पुरुष विकारोंको कभी ग्रहण कर ही नहीं सकता, पर जिसको आत्माके इस अविकार सहज स्वरूपका परिचय नहीं है वह पुरुष धर्मके नामपर चाहे कितने ही कार्य कर ले, तपश्चरण कर ले, फिर भी वह संसारीका संसारी ही है। वह मोक्षमार्गमें रंच भी नहीं है। जिसका मोक्ष होना है उसका ही परिचय नहीं उसे, मोक्षमें होता क्या है इसका भी परिचय नहीं है। स्वरूप तो अविकार है। तभी तो यह अविकार स्वरूप प्रकट हो सकता है तो अविकार स्वरूपका, चैतन्यमात्र तत्त्वका जिसको परिचय नहीं है याने जो आत्माको नहीं चाह रहा वह पुरुष किसी भी प्रकार सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता। सिद्धि मायने जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा ही उपयोगमें आ जाना और शाश्वत ऐसा ही अविकारपना बना रहना, यह बात अज्ञानी जीवमें प्रकट नहीं हो सकती। इससे इच्छाकारका सही अर्थ जानना, आत्माका अविकार स्वरूप समझना यह महान् पौरुष है।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण।
जेण य लहेइ मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥१६॥

(१२२) **आत्मतत्त्वके अनभिलाषीको मोक्ष व मोक्षमार्गका अलाभ**—इससे पहली गाथा में बताया था कि जो आत्माको नहीं चाहता याने इच्छाकारके महान अर्थको नहीं जानता वह पुरुष सिद्धि नहीं पा सकता। इच्छाकार मायने है आत्माके सहज अविकार स्वरूपको चाहना। तो इच्छाकार शब्दके आश्रय दो तीन गाथाओंमें यह निर्णय दिया है कि जो आत्माके सहज स्वरूपको जानता है वह तो मुक्ति पायगा और जो सहज स्वरूपको नहीं जानता वह संसार में ही रुलता है। अब इस शिक्षाके फलमें क्या प्रवृत्ति करना योग्य है सो बताते हैं। इस कारणसे अतिरिक्त जो आत्माको चाहता नहीं है उसको सिद्धि नहीं, इस कारणसे हे भव्य पुरुष तुम एक इस आत्माका ही श्रद्धान करो। कल्याणके लिए कार्य एक ही है करनेका। जो

Version 1

यह भेद दिखता है कि इसने श्रावक व्रत पाला, इसने मुनि व्रत पाला सो ये इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि अशुभ भावोंका, विषय कषायोंका आक्रमण होता है तो उससे बचनेका तुरन्त उपाय तो चाहिए, वह है व्रत। दूसरा कारण यह है कि सर्व बाधकोंको दूर करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माके स्वरूपकी ओर प्रगति करता है। तो बाधक तो समस्त पदार्थ हैं बाहर में। जितने भी परिग्रह हैं सो यह परिग्रहोंको हटाता रहता है। किसीका परिग्रह कम हटा किसीका अधिक हटा, किसीने बिल्कुल हटाया, तो इस वृत्तिसे व्यवहार धर्ममें भेद नजर आता है, मगर सभी लोग चाहे श्रावक हों, चाहे मुनि हों, जो भी आत्मकल्याण चाहता है उसका मूल धर्म यही पालनेमें आ रहा कि आत्माके सहज अविकार स्वरूपमें यह मैं हूं, इस प्रकारका अनुभव बनाना, सो हे भव्य जीव तुम इस ही आत्माका श्रद्धान करो। मनसे, वचनसे, काय से इस ही स्वरूपमें रुचि करो। बोलो तो इस ही को बोलो। शरीरसे चेष्टा करो तो इस ही के अनुरूप, याने एक आसनसे स्थिर होकर बैठ गए और मनसे चिन्तन करें तो इस ही आत्मस्वरूपका, दूसरा कुछ काम ही नहीं।

(१२३) **सहज अविकार चैतन्यस्वरूपकी रुचिसे सर्वलाभ**—यहाँ एक बात और समझ लेना है कि जो इस पुरुषार्थको करेगा, सहज अविकार चैतन्य मात्र अपनेको अनुभवेगा, ठीक ठीक जानेगा, उसकी इस वृत्तिके होने पर जब तक संसारमें भव शेष हैं तब तक उत्तम भव ही मिलेंगे, वह संसारमें भी दुःखी न रहेगा। तो भला बतलाओ ऐसा उपाय जो कि स्वाधीन है, पूर्णतया स्वभाविक है, किसी भी अन्य बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न पड़ना सुगम है, और जब तक संसारमें रहे तब तक आनन्दसे रहे और संसार छूट गया तो प्रकट आन्नद ही आनन्द है। और इन सब फलोंकी बातका उपाय है केवल एक ही,—अविकार चैतन्य प्रकाशमात्र अपने सत्त्वमें अपना अनुभव करना। तो जिसको सम्यग्ज्ञान जगा, यह ज्ञान प्रकाश मिला तो वह क्यों न अपने अन्तः पुरुषार्थको करेगा? सो हे भव्य पुरुष तुम भी इस ही अंतस्तत्त्वका श्रद्धान करो और हर पुरुषार्थसे इस ही स्वरूपमें रुचि करो, मग्न होवो। इससे ही मोक्ष पद प्राप्त किया जायगा। जिस उपायसे मोक्ष पद मिले उसके लिए तो सब तरहसे उद्यम करना। थोड़ा ज्ञान पाया, थोड़ी चर्चा करली, थोड़ा चिन्तन कर लिया, थोड़ा सत्संग कर लिया और इतनेमें ही संतुष्ट होकर रह जाना यह आत्मार्थीका काम नहीं है। उसकी दृष्टिमें तो बहुत बड़ा काम पड़ा है, बाहर नहीं, अन्दरमें। बड़ा भी कुछ नहीं, स्वयंमें मग्न हो जाना। और बड़ा यों कहा जाता कि इसके खिलाफ बहुत दूर पहुंच गए, सो जितनी दूर पहुंच गए वहाँसे लौटना यह तो बड़ा काम हुआ ना? लौटना ही बड़ा काम है। अपने स्वरूपमें रम जाना बड़ा कुछ नहीं है। वह तो अपने स्वरूपकी वृत्ति है। सो जिस

उपायसे मोक्ष बनता है उसको जानना, श्रद्धान करना, अन्य आडम्बरोंसे कोई प्रयोजन नहीं। जिसको आडम्बर रुचते हैं, धर्मके नामपर बड़े आडम्बरसहित जो चलते हैं वैसा ही उपयोग रहता है वे पुरुष ज्ञानी नहीं हैं। ज्ञानी पुरुष तो केवल एक ही लक्ष्य बनाये हुए है कि यह है मेरा स्वरूप समुद्र, उसमें कैसे मैं नहाऊँ ? इस प्रक्रियामें चलते हुए हैरानी भी अनुभव करता। जैसे कभी स्वप्न आया कि एक बहुत बड़ा समुद्र या नदी है और प्यासके मारे गला सूख रहा है, वह पानी पीनेके लिए बहुत बहुत प्रयत्न करता, प्रयत्न करके हार गया, मगर पानी तक नहीं पहुंच पाता, उस समय वह बड़ी हैरानी अनुभव करता है। कभी ऐसे भी स्वप्न होते हैं। तो यहाँ ज्ञानीको ऐसी ही हैरानी होती है कि नजर आ रहा यह है परम तत्त्व, इस ही में मग्न होना है, उसके लिए मन भी कर रहा, पर यह बात नहीं बन पा रही तो ज्ञानीका लक्ष्य एक ही है। उसे अन्य आडम्बरसे प्रयोजन नहीं।

बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥१७॥

(२२४) **साधुकी निष्परिग्रहता**—जो मोक्षमार्गके लिए अपना पुरुषार्थ लगा रहे हैं वे समस्त परिग्रहोंको त्यागकर निष्परिग्रह वृत्ति रखते हैं। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि मोक्षमार्गमें प्रगति करते हैं। बालके अग्रभाग बराबर याने बाल जितना मोटा होता है उतने अग्रभाग बराबर जो परिग्रहको ग्रहण करता है वह साधु नहीं है। साधुके तो बालके अग्रभागके नोकमात्र भी परिग्रहका ग्रहण नहीं है ऐसा निष्परिग्रह है, जिसकी धुनमें केवल सहज आत्मस्वरूप समाया है उसके परिग्रहका क्या प्रसंग ? जिसने केवल आत्माके सर्वस्वको ही चाहा है, उसके लिए ही उद्यम है वह निष्परिग्रह होकर इस ही अंतस्तत्त्वकी साधना करता है और उस निष्परिग्रहताका ही यह नमूना है कि वह साधु आहार हाथमें करता है। अब कोई आहार तो हाथमें ही लेवे और बाह्यसे दिगम्बर मुनि बने और चित्तमें बहुतसा परिग्रह बसाये, मोटर, रसोईका सारा सामान, बर्तन, उसे ग्रहण चाहे कोई न करे पर मनमें अगर बात आ गई, तो वह तो परिग्रह है। और ऐसे ही मन वाले साधुवोंके बारेमें बताया है कि कई करोड़ ऐसे मुनि नरक जायेंगे भला यह जगतको कितना ठगा जा रहा है कि बाह्यमें तो पंचम परमेष्ठीका रूप रखा हो और भीतर मनमें अन्य-अन्य विकल्प परिग्रह समा रहे हों, अन्तस्तत्त्वकी निरन्तर रुचि न जग रही हो वह अपना भी विनाश कर रहा है और उस संगतिमें दूसरेका भी लाभ नहीं है। जिसको मोक्षकी इच्छा है उसको केवल एक ही लक्ष्य रखना होगा कि यह मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ। तो मुनि महाराज जो अत्यन्त निष्परिग्रह हैं, पर जीवन तो है, असमयमें मरना तो बुद्धिमानी नहीं है, इसलिए इस शरीरको सेवक जान

Version 1

कर इसको आहार दिया जाता है, सो मुनि उस आहारकी विधि स्वयं नहीं बनाता, स्वयं नहीं आहारकी सामग्री रखता, किन्तु जो श्रावक बना रहा है उसकी भक्ति पूर्वक दिया हुआ आहार ग्रहण करते हैं और वह भी केवल अपने हाथका ही बर्तन बनाकर आहार ले लेते हैं, ऐसी निष्परिग्रहता है इस दिगम्बर मुद्रामें, तो जहाँ आहार परका दिया हुआ लें और हाथ में लें तो वे निष्परिग्रह ही तो हैं याने किसी भी अन्य वस्तुमें चित्त नहीं है सो विरक्ति और परिस्थितिमें ऐसा इसे करना होता है ।

जयजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ।। १८ ।।

(१२५) **तिलतुषमात्र भी परिग्रहणमें मुनिकी दुर्गति**—जो यथाजात रूपकी तरह तो भेष रखे याने जैसे बालक उत्पन्न होता है, निर्लेप निष्परिग्रह, कुछ भी साथ नहीं, ऐसा तो कोई भेष रखे और अपने पाणिपात्रमें आहार करे, उसकी ऊपरी चर्या तो ठीक रखे, लेकिन थोड़ा बहुत भी अन्य वस्तुको मनसे, वचनसे, कायसे, भावसे ग्रहण करे, अपनाये तो वह मुनि निगोदमें जाता है । यथाजात रूप तो दिगम्बर निर्ग्रन्थको कहते हैं । सो अगर वह थोड़ा भी परिग्रह रखें तो उसको जिनसूत्रकी श्रद्धा नहीं है, बिल्कुल निर्लेप, निशल्य, कुछ भी बाह्यसे मतलब नहीं, केवल चित्स्वरूपकी ही धुन यह है मुनिका स्वरूप । तो जो थोड़ा बहुत भी बाह्य वस्तुको रखता है उसको जिनसूत्रकी श्रद्धा नहीं है । अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्वका फल निगोद है और कदाचित् कुछ तपश्चरणके कारणसे वह स्वर्गादिकमें भी जाय तो वह वहाँसे चिगकर एकेन्द्रिय होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा । जहाँ चेतने लायक मन मिला था, मनुष्यका मन बड़ा ऊँचा समझा जाता है, और उस मन वाले जीवमें भी उत्कृष्ट पद मुनिका पद धारण किया । जब वहाँ ही छल बल रहा, वहाँ ही परिग्रहका ग्रहण रहा और कभी किसी तपश्चरण या मंदकषाय होनेसे देवायुका बंध हुआ और कुछ छोटे स्वर्गोंमें उत्पन्न हो गया तो वहाँ कैसे अपनी साधना बनायगा । जब इतने बड़े मौकेको बिगाड़ कर गया तो वहाँ भी आशा नहीं है, नियम तो नहीं, पर आशा नहीं है, ऐसा जीव वहाँसे चिगकर एकेन्द्रिय होकर संसारमें ही रुलता है ।

(१२६) **मुनिके निष्परिग्रहत्वका मूल परका अपरिग्रहण**—यहाँ थोड़ा इस बातपर विचार करना कि मुनिके तो शरीर है, आहार भी करते हैं, कमण्डल, पिछी, पुस्तक भी रखते हैं, फिर उनको निष्परिग्रह कहा कि वे तृणतुष मात्र भी परिग्रह नहीं रख रहे तो यह कैसे संभव है ? आप इसका चिंतन करिये—मूलतः तो ध्यानमें आयगा कि मिथ्यात्वसहित राग भावसे परको अपनाकर अपने विषय कषाय पोषनेको उसने रखा तो उसका नाम परिग्रह है ।

अब इस कुञ्जीसे प्रत्येक समागमकी परीक्षा कर सकते हैं कि यह रागभावको अपना रहा या नहीं और अपनी ख्यातिके लिए, आरामके लिए वह रख रहा है कि नहीं ? यदि रागभाव है और अपने विषय कषाय पोषनेको है तो परिग्रह है। मुनि निष्परिग्रह है। कोई यह बतलाये कि विहार करते हैं और रास्तेमें १००-२०० मील तक श्रावकोंके घर नहीं पड़ते इसलिए हम मोटर रखते हैं, ऐसी युक्ति कोई मुनि दे तो वह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसने तो इस कारण रखा कि मेरे मौजमें बाधा न पड़े। हर जगह आरामके साधन रहें तो यह विषय कषाय पोषनेका ही तो प्रयोजन रहा। मुनि तो अपनी ओरसे बिल्कुल निशल्य होता है, निरीह होता है, तभी तो उसे अरहंतका मानो लघुनन्दन कहते हैं। और कहीं जिनप्रतिमाके दर्शन न हों तो मुनिके स्वरूपके दर्शन करके वही बात बनती है, जिसकी इतनी तो महिमा है और वह स्वयं मनमें बाह्य पदार्थोंके विकल्पमें डूब रहा हो तो वह तो भव सागरमें डूब रहा। तो रागभावको कुछ अपनाना नहीं, विषय कषाय पोषनेको रखना नहीं, किन्तु केवल संयमके लिए ही रखा जा रहा जो कुछ रखा जा रहा। तीन उपकरण हैं—पिछी, कमण्डल और पुस्तक।

(१२७) शरीर होनेपर भी मुनिके निष्परिग्रहत्व—अब रह गया एक शरीर। सो कोई कहे कि शरीर भी तो रख रहे वे, तो वह तो जीवनपर्यन्त छूटता नहीं। तो उस शरीर से ममत्व ही छोड़ना बस यह ही शरीरके परिग्रहका त्याग कहलाता है। वे कहीं शरीरको अलग फेंक दें याने मर जायें इस तरहका कार्य तो निषिद्ध है। शरीर तो रह रहा है, उसको जबरदस्ती मारना नहीं है, पर उस शरीरके प्रति ममता न रहनी चाहिए, यह ही शरीरके परिग्रहका त्याग कहलाता है और जिसको शरीरमें ममता नहीं, शरीरको अत्यन्त भिन्न जान रहा और अपने आपके स्वरूपमें जिसका उपयोग रम रहा ऐसा ही पुरुष तो डंस मसक क्षुधा तृषा आदिक अनेक परीषहोंपर विजय प्राप्त करते हैं तो जब तक शरीर है तब तक आहार न करें तो फिर शरीरमें सामर्थ्य न रहेगी और सामर्थ्य नहीं है तो संयम न सधेगा। इस कारण संयमकी साधनाके लिए विधि पूर्वक आहार लेने जाते, आसक्त होकर नहीं, इसलिए शरीर परिग्रहमें शामिल नहीं है।

(१२८) शौच, दया व ज्ञानके उपकरणमें साधुकी निष्परिग्रहता—कमण्डल है शौचका उपकरण। अगर शुद्धि न रखें मल मूत्रकी अशुद्धि करके तो पंच परमेष्ठीकी वंदना करके भक्ति आदिक कैसे करें ? उसमें अविनयका दोष है और मन भी न लगेगा, इस कारण शुद्धिके वास्ते कमण्डल रखते हैं, उसका भी प्रयोजन संयमकी साधना है, विषय कषायोंका पोषण नहीं। पिछी रखते हैं तो वह है दयाका उपकरण। जहाँ बैठना वहाँ

Version 1

पिच्छी से पोंछकर निर्जन्तु स्थानपर बैठना। कोई चीज धरना उठाना तो पिछीसे शोधकर उसे धरना उठाना। बिहार कर रहे, धूपमें चले जा रहे, रास्तेमें पेड़ोंकी छाया आती है, तो जहाँ छाया शुरू होगी वहाँ धूपमें वे खड़े रहकर पिछीसे पूरा अंग झाड़ते ताकि गर्मी पसंद करने वाला कोई कीड़ा सूक्ष्म जंतु शरीर पर न रहे, क्योंकि अब छायामें, शीतल स्थानमें जा रहा है। तो गर्मी पसंद करने वाले जंतुको बाधा होगी छायामें। छायासे बिहार करके जाना है धूपमें तो वह अपने शरीरको पिछीसे झाड़ पोंछकर जाते क्योंकि छायामें रहने वाले कीड़ेको गर्मीमें पहुंचने पर बाधा होगी। सो उस जीवको मेरे द्वारा बाधा न पहुंचे, कष्ट न हो, यह सोचकर मुनिराज अपने शरीरको पिछीसे पोंछते हैं। तो यों जीवदया पालन करने की दृष्टिसे पिछी उपकरणकी आवश्यकता हुई। जीवदयाके लिए, संयम साधनाके लिए मुनिजन पिछी उपकरण रखा करते हैं, न कि शौक या विषय कषायोंका पोषण करनेके लिए रखते हैं। अब यदि कोई मुनि पिछीको बहुत अच्छे ढंगसे सजाकर रखे और उसकी सुन्दरता को जब चाहे देखे तो वह उपकरणका उद्देश्य न रहा। अब उसका उद्देश्य रागभावके पोषणका बन गया। कोई कमण्डलको बहुत सुन्दर चमकीला डिजाइनदार बढ़िया चित्रित कराकर रखे तो उसके लिए वह उपकरणका ध्येय न रहा, उसका ध्येय रागभाव पोषनेका रहा। तो जो मुनिजन पिछी कमण्डल रखते हैं वे संयमकी साधनाके लिए रखते हैं, विषय कषाय पोषनेके लिए नहीं। पुस्तक है सो ज्ञानका उपकरण है। पुस्तक न रखें तो पठन पाठन, ज्ञानका अर्जन कैसे करें ? तो इन तीन उपकरणोंका रखना ममत्व पूर्वक नहीं है। वहाँ रागभाव नहीं है, अन्तमें तो पिछी, कमण्डल पुस्तक आदिकका ग्रहण ये सब छूट जाते हैं और वह आत्मा अपने शुक्लध्यानमें रहता है, किन्तु तब तक आहार विहार पठनकी क्रिया में रहते हैं जब तब केवलज्ञान नहीं उत्पन्न होता है। उन सब क्रियावोंको छोड़कर, शरीर का सर्वथा ममत्व छोड़कर मुनि अवस्थामें रहकर स्वरूपमें लीन होते हैं तो उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ अवस्था बनती है और फिर ऐसे मुनिजन श्रेणीको प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

(१२९) **अन्यथाप्रवृत्तिमें सर्वज्ञताके लाभकी असंभवता**—स्वरूपप्रतिकूलवाली अन्यथा क्रियावोंमें रहकर केवलज्ञान न बनेगा। मुनिक्रियामें रहते हुए ही भावोंकी साधना बन पायगी कि जिससे केवलज्ञान उत्पन्न होता है। अन्य वस्त्रधारी जटाधारी लाल वस्त्र वाले, श्वेत वस्त्र वाले, उनका यह आशय रहता है कि किसी भी अवस्थाओंमें केवलज्ञान मिल सकता है, और यह कहना मिथ्या है। जब बाह्यमें अन्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्ति रही तो वह उपेक्षा कहाँ है जिससे कि मोक्षका मार्ग बनता है। यद्यपि श्वेताम्बर मतमें भी निर्ग्रन्थ दिगम्बरको माना है नग्नसाधुको, और उसे जिनकल्पी शब्दसे कहा है, पर उनका कहना यह है कि जिन-

कल्पी होना, नग्न दिगम्बर होना यह तो उत्सर्ग मार्ग है और वस्त्रादिक रखकर साधुपना साधन करना यह अपवाद मार्ग है। और इससे बढ़ करके फिर और आगे भी शिथिल हो जाते। शिथिलताकी शुरुआत अगर हो जाय तो वह आगे शिथिल ही शिथिल बनता चला जायगा। तब कहने लगे कि वस्त्र भी उपकरण हैं, धर्मका उपकरण। और ऐसा चलते चलते यहाँ तक आ जाते हैं कि काम विकार अगर ध्यानमें बाधा दे तो उसको दूर करनेके लिए स्त्री प्रसंग भी कर सकते हैं। जहाँ शिथिलता शुरू हुई वहाँ फिर उसका नियंत्रण खतम हो जाता है। शिथिलताकी ओर बढ़ता है। तो तीन तो उपकरण ठीक हैं मगर इनके अतिरिक्त यदि किसी चौथी बातको उपकरण मानकर कोई मुनि ग्रहण करे तो उस मुनिमें शिथिलता विशेष विशेष आती ही रहती है। अतः यथाजात निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि ही व्यवहारमें मोक्षमार्ग है।

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहियो निरायारो ॥१९॥

(१३०) **मुनिवेषमें परिग्रहग्रहणकी गर्हितता**—जिसके भेषमें परिग्रहको ग्रहण करना बताया गया है, चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत हो वह तो जिनागममें गर्हित है, निंदनीय कहा गया है। साधु परमेष्ठी एक बहुत ऊँचा पद है जिसकी सर्व लोग वंदना करें, जो विश्ववंद्य रहे और वह लौकिक पुरुषोंकी भाँति परिग्रहका भाव रखे उसमें यह बात पोषे कि मैं निष्परिग्रह हूं तो उसमें छलका भी दोष है, लोभका भी दोष है, मानका भी दोष है, क्योंकि अभिमान करेगा अपनेको गुरु मानकर, और ऐसा कोई नहीं मानता तो क्रोध भी पद पद पर आयगा। तो ऐसे पुरुषको कषायोंकी तीव्रता है। जिन मतोंमें गुरु मानकर बताया हो इतने पात्र रख लो, जो जो भी आवश्यक हुए शरीरके पोषनेके उन उन परिग्रहोंका जो रखना बतावे सो सिद्धान्त अज्ञानियोंका बनाया हुआ है, निन्द्य है, जिनेन्द्र शासनमें परिग्रहरहित हो निर्दोष पुरुषको मुनि कहा गया है। कहीं भी दोष बढ़ता है तो मूलमें बहुत छोटा दोष हो पाता है और उसीका बढ़ बढ़कर महादोष बन जाता है। जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उनके आगममें किसी साधुको परिस्थितिवश एक वस्त्रकी आज्ञा है, दूसरे वस्त्रकी आज्ञा नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय तो भद्रबाहु आचार्यके समय अकालके बाद बना है। दिगम्बरपना पूर्ण रूपसे पहले था ऐसा श्वेताम्बर लोग भी मानते हैं और उनके आगममें भी जिनकल्पी मुनि निर्ग्रन्थ मुनिकी उत्कृष्टता बताते हैं। तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिसे कुछ थोड़ी शिथिलता आयी तो एक वस्त्रकी बात मुश्किलसे आ सकती है और लिखा भी है स्थावरकल्पी रहे कोई तो एक एक वस्त्र धारण करना होगा। अब एक वस्त्र जब धारण कर लिया कुछ समय बाद एकके बाद दो हो

Version 1

जायें तो वहाँ कौन पूछने वाला है ? दो के चार हो गए, फिर ८ हो गए, अब कौन जानने वाला है कि कहाँ क्या लिखा है ? और, भगवतीसूत्र आदिमें जहाँ लिखा है उसको लोगोंसे बताये नहीं कि आगममें यह लिखा है तो इस तरह बहुत बड़ा दोष चलने लगता है। इसी कारण तो बताया गया है व्रतीको कि अल्प दोष भी न लगना चाहिए। पर थोड़ा सा दोष लगा और मन हो गया स्वच्छन्द तो उस स्वच्छन्द प्रवर्तनके कारण बहुत बड़े दोष तक पहुंच सकता है। तो जिनके यहाँ परिग्रहका ग्रहण बताया गया है और परिग्रहधारियोंको गुरु बताया गया है वह जैनशासनसे बहिर्भूत तत्त्व है।

पंचमहव्वयजुत्तो तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ॥२०॥

(१३१) **निर्ग्रन्थ महाव्रती त्रिगुप्तिगुप्त संयमीकी मोक्षमार्गस्थता**—जो मुनि ५ महाव्रत करके तो सहित हो, तीन गुप्तियोंसे संयुक्त हो वह कहलाता है संयत याने संयमवान। सो निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है सो ही वास्तवमें वंदनीय है। वंदनीय तो आत्माका स्वभाव है, जहाँ वह स्वभाव पूर्णतया प्रकट है वह तो देव है, वह वंदनीय है और जहाँ वह स्वभाव पूर्णतया तो नहीं प्रकट है, एक देश प्रकट है और उसके विकासमें ही जिसकी अन्तर्दृष्टि चल रही है वह गुरु कहलाता है, सो गुरु वंदनीय हैं और ऐसे ही आत्मविकासकी जहाँ बात लिखी हो, उसका उपाय बताया गया हो वह शास्त्र कहलाता है, तो शास्त्र भी वंदनीय है। तो आत्माका स्वभाव निश्चयतः वंदनीय है। वंदनमें नम्रता आती है, नम्रताके मायने झुकाव। तो आत्मस्वभावकी ओर झुकना, उसे ही हित रूपसे मानना यह बात उनको प्रकट होती है जिनको आत्मस्वभाव विकसित होना है तो उसकी धुनमें रहने वाला पुरुष समस्त बाधक तत्त्वोंको हटाता जाता है और जहाँ सारे बाधक तत्त्व हट गए बस वही कहलाती है मुनिदशा। जिसको केवल आत्मासे ही प्रयोजन है वह अन्य वस्तु कैसे रख सकता है ? उसे मात्र पिछी, कमण्डल, पुस्तक रखना है तो वह सहायक ही है, क्योंकि जीवहिंसा करते हुए वह रहेगा कैसे ? इस लिए दयाका उपकरण पिछी रखे हैं। शौचादिक कोई मल मूत्र क्षेपण आदिक करें तो अशुद्ध करें तो अशुद्ध अवस्थामें ग्रन्थ कैसे छुवेंगे ? शास्त्र पढ़ना, देव वंदन करना आदिक ऊँची-ऊंची क्रियायें कैसे उस अशुद्ध अवस्थामें करेंगे ? तो शौचका उपकरण कमण्डल रखे हुए हैं, और ज्ञानमें कैसे रमें, यह सबसे ऊँचा उपकरण है, सो शास्त्र रखते हैं, मगर इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य बातसे प्रयोजन नहीं। अगर तिल तुष मात्र भी अन्य चीज रखें तो उसका प्रयोजन सिर्फ राग हैं, और कोई प्रयोजन नहीं। तो जो पंच महाव्रतकर सहित हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ पापोंका सर्वथा त्यागी हो, मनको वश करना, वचनको

वश करना, शरीरको वश रखना, इन तीन गुप्तियोंसे सहित हो वही निर्ग्रन्थ स्वरूप है और वही वंदना किये जाने योग्य है, और जो कुछ भी थोड़ा बहुत परिग्रह रखते हैं वे महाव्रती नहीं, संयमी नहीं, मोक्षमार्गी नहीं, बल्कि गृहस्थके बराबर भी नहीं। गृहस्थ तो परिग्रह रखकर अपनेको गृहस्थ मानते हैं, श्रावक समझते हैं, गुरुपनेका अभिमान तो नहीं रखते, पर कोई परिग्रह रखकर गुरुपनेका अभिमान रखता है तो वह गृहस्थसे भी बुरा है। तो जैन शासनमें एक निर्ग्रन्थ गुरु ही वंदनीय हैं।

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

(१३२) **उत्कृष्ट श्रावकोंका जैनशासनमें द्वितीयलिङ्ग**—वंदनीय प्रथम लिङ्ग है मुनिका, दूसरा लिङ्ग बंदनीय है उत्कृष्ट श्रावकका उत्कृष्ट श्रावक हैं क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका, उन्हें गृहस्थ नहीं कहा जा सकता। श्रावक और गृहस्थमें अन्तर है। गृहस्थ तो तब तक कहलाता है जब तक कि वह घरमें रह रहा है। घरका संबंध है, पर जिसका घरका सम्बंध नहीं रहा, त्याग कर दिया और श्रावकके ऊँचे व्रतोंका पालन करता हुआ रह रहा उसे गृहस्थ नहीं कहा जाता, उसे उत्कृष्ट श्रावक कहा जाता। सो ऐसा उत्कृष्ट श्रावक ११ वीं प्रतिमाका धारी है। वह घूमकर भिक्षावृत्तिसे चर्या कर आहार ग्रहण करता है, और जो ऐलक उत्कृष्ट श्रावक है वह अपने हाथमें ही भोजन करता है, पात्र भी ग्रहण नहीं करता और समितिरूप अपनी प्रवृत्ति रखता है। भाषा समितिका आलम्बन रखता है अथवा मौन ग्रहण करता है। तो मुनिका स्वरूप तो यथाजात है। और उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारके हैं—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। क्षुल्लक तो सिर्फ वस्त्र और कोपीन धारण करता है, भिक्षाभोजन करता है और ऐलक उत्कृष्ट श्रावक करपात्र भोजन करता है और समितिरूप प्रवृत्ति रखता है। उद्देश्य मुनिका और उत्कृष्ट श्रावकका एक ही है। अपना जो शाश्वत स्वरूप है उसरूप अपनेको अनुभवना, सबका एक ही लक्ष्य है। मोक्षमार्ग एक ही है, अपने सहज स्वरूपका आलम्बन। चाहे वह अपने मुनि भेषमें आगे बढ़ रहा हो, चाहे श्रावक भेषमें ही चल रहा हो, पर लक्ष्य सबका एक ही रहता है। जैसे शिखर जी की यात्रा अनेकों लोग पैदल करते हैं तो जो हट्टे कट्टे जवान लोग होते हैं वे तो आगे बढ़ जाते हैं और जो बूढ़े कमजोर लोग होते हैं वे धीरे-धीरे पीछेसे पहुंचते हैं, पर लक्ष्य उन सबका एक ही है—शिखरजी की बंदना करना ऐसे ही जो मोक्षमार्गमें चल रहे हैं, श्रावक पीछे पीछे हैं, मुनिजन आगे आगे बढ़ रहे हैं, पर लक्ष्य सबका एक है कि आत्माका जो एक ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव है उसरूप ही रहना, रागद्वेषकी तरंग न आने देना, ऐसी वे अपनी भावना रखते हैं।

लिगं इत्थीए हवदि भुंजइ पिंडो सुएयकालम्मि ।
अञ्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥२२॥

(१३३) **आर्यिकाका जैनशासनमें तृतीय लिङ्ग**—तीसरा लिङ्ग है स्त्रीका अर्जिकाका। वे भी दिनमें एक ही बार भोजन करती हैं। एक वस्त्र धारण करती हैं और किसी भी समय वे नग्न नहीं होती। स्त्रीका नग्न रूप निषेध है, वह श्रावक तक ही रह सकती है, उसका साधु परमेष्ठीका दर्जा नहीं हो सकता। तो ११ वीं प्रतिमामें स्त्री कोई क्षुल्लिका होती है कोई अर्जिका होती है, सो भोजन तो एक ही बार है पर वस्त्रका अन्तर है। अर्जिका एक वस्त्र धारण करती है और क्षुल्लिका दो वस्त्र धारण करती है, और इनको अपने पदमें अभिमान नहीं होता। स्त्री पर्यायकी निन्द्यता उनके चित्तमें रहती है। स्त्री पर्याय अच्छी पर्याय नहीं, उससे विरक्त रहती हैं। तो जिसको स्त्री पर्यायसे विरक्ति है वह उसमें अभिमान कैसे कर सकता है? भले ही आज कुछ ऐसा देखा जाता कि स्त्री अगर क्षुल्लिका, अर्जिका बन जाय तो उसे अभिमान अधिक हो जाता, पर यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। पुरुष इतना अभिमान नहीं करता ऊँचा व्रत लेनेपर भी जितना कि प्रायः स्त्रीजनोंमें देखा जाता है जो स्त्रियाँ योग्य हैं वे तो अभियान नहीं करतीं, पर बजाय स्त्री पर्याय निन्द्य है ऐसा समझनेके अज्ञानी स्त्री अपने उस पदमें अभिमान रखती है। और यथातथा गृहस्थसे व्यवहार रखती है। तो जो अर्जिका है क्षुल्लिका है, सम्यग्दर्शन सहित है उसको अभिमानका प्रसंग नहीं है। वह तो निरन्तर लिङ्ग रहित आत्मस्वरूपकी भावनामें अपना समय व्यतीत करती हैं। तो ऐसा तीसरा लिङ्ग है यह स्त्रीका।

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

(१३४) **सवस्त्रमुनियोंकी उन्मार्गरूपता**—जैन शासनमें वस्त्ररहित आत्माकी उपासनाकी धुन वाले पुरुष ही वंदनीय कहे गए हैं। जो वस्त्रका धारण करने वाला हो वह मोक्ष नहीं पा सकता। तीर्थंकर भी हों और जब तक वे वस्त्रधारी हैं, गृहस्थ हैं तब तक उनका भी मोक्ष नहीं होता। वे भी साधुदीक्षा लेते, निर्ग्रन्थ होते, दिगम्बर रूप धारण करते और उस स्थितिमें आत्मसाधना बनाते और शुक्लध्यान प्रकट होता तब उनका मोक्षपना बनता। तो इस कारण दिगम्बर स्वरूप ही मोक्षका लिङ्ग है। बाकी अन्य सब लिङ्ग उन्मार्ग हैं, मार्गसे विपरीत हैं। तीर्थंकरोंका नग्न होना श्वेताम्बर शास्त्रोंमें भी बताया है। सर्व तीर्थंकर नग्न अवस्थामें ही रहते हैं। पर जिनसे नग्नता नहीं सही गई ऐसे साधुजनोंने अपनी ही बात दुनियामें प्रशंसनीय रखनेके लिए लिख दिया है कि होते तो वे नग्न ही हैं मगर इन्द्र उनपर एक वस्त्र डाल देता है। तो नग्नता यह मोक्षमार्ग है। अन्दरसे भी नग्न

हो मायने रागद्वेष विकार इससे दूर हों और बाहरसे वे नग्न हैं ही तो ऐसे द्विविधनग्न पुरुष को मोक्ष होता है। नग्नके मायने हैं कि बाहरी चीजोंका सम्पर्क न रखना। खालिस अकेला ही रह जाना। जैसे शरीर। केवल शरीर ही रह गया, उसपर वस्त्र नहीं, किसी पदार्थका संयोग नहीं तो वह नग्न कहलाता है। तो अध्यात्मनग्न कौन कहलाया कि जहाँ दर्शन ज्ञान स्वरूपी यह अंतस्तत्त्व अपने ठीक स्वरूपमें रहे, इसमें विकारका प्रवेश न हो, किसी प्रकारका योग तरंग न आये, ऐसी स्थितिका नाम है अध्यात्म नग्नता। तो जो पुरुष अविकार है, अपने स्वरूपकी धुनमें बसा है वह पुरुष तो मोक्षमार्गी है, पर जो बाह्य पदार्थोंके विकल्पमें लगा है, वस्त्रादिक अल्प परिग्रह धारण किए हो वह सब उन्मार्ग कहलाता है।

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

(१३५) **स्त्रियोंके प्रव्रज्याके अनधिकारका कारण**—स्त्रियोंको दीक्षा नहीं दी जाती याने मुनिदीक्षा स्त्रियोंको नहीं मिलती, उसका कारण क्या है कि स्त्रीका शरीर ही ऐसा है कि जो हिंसाका धाम है। स्त्रीकी योनिसे, स्तनोंके अन्दरसे, काँखोंसे, सूक्ष्म कायके जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। जो लब्धपर्याप्तक असंख्यात मनुष्य बताये गए हैं वे स्त्रीके शरीरके आधार ही बताये गए हैं। तो जहाँ ऐसे सूक्ष्म काय दृष्टिके अगोचर जीव उत्पन्न होते रहते हैं उन स्त्रियोंके प्रव्रज्या कैसे हो सकती है? मुनि दीक्षा नहीं है स्त्रीके। इसके अतिरिक्त स्त्रीके आखिरी तीन संहनन बताये गए हैं। पहलेके तीन संहनन स्त्रीके नहीं होते। वज्रवृषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन और अर्द्ध नाराचसंहनन, इनमें से मोक्ष होता है वज्रवृषभनाराचसंहनन वालेका। तो जिसके दूसरे तीसरे भी संहनन नहीं हैं, पहलेकी तो कथा ही क्या कहें, वहाँ मोक्ष कैसे हो सकता है? यह तो करणानुयोगका सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त लज्जा और माया ये दो बातें स्त्रीमें स्वभावतः हैं। उसके ऐसी निर्विकल्पता आ ही नहीं सकती कि वह नग्न भी हो सके। वह स्वयं नग्न न होगी और कोई ढीठ पुरुष मानो ऐसा काम करे तो वह जैन शासनसे बहिर्भूत है। तो स्त्रीजनोंके मुनि दीक्षा नहीं कही गई। तो ये क्षुल्लिका अर्जिकाके पद उत्कृष्ट श्रावकमें ही माने गए। तो इस तरह जैन शासनमें तीन लिङ्ग बंदनीय कहे—(१) मुनि (२) क्षुल्लक ऐलक याने ११ प्रतिमाधारी श्रावक पुरुष और (३) अर्जिका। ये तीन लिङ्ग बंदनीय हैं। क्षुल्लक ऐलक मायने ११वीं प्रतिमा और क्षुल्लिका अर्जिका मायने ११ वीं प्रतिमा।

(१३६) **गुरुताके त्रिलिङ्गके अतिरिक्त अन्य वेशोंकी आत्मविकासाननुरूपता**—तीन लिङ्ग यों समझना—(१) मुनि, (२) उत्कृष्ट श्रावक पुरुष और (३) उत्कृष्ट श्राविका स्त्री

Version 1

इनके अतिरिक्त जो अन्य-अन्य तरहके दुनियामें भेष चल रहे हैं वे वंदनीय नहीं। जैसे तापसी लोग, अनेक प्रकारके संन्यासी जन भभूत लगाकर, सिरमें जटायें बाँधकर, बनमें रहकर, कुटीमें रहकर बनफल भक्षण कर तपश्चरण तो बहुत करते हैं किन्तु बाहरी पदार्थके लगाव पर उनकी दृष्टि चल रही है, देहको ही उन्होंने साधु माना है। और देहके तपश्चरण भेषभूषामें मोक्षमार्ग समझा है। कितने ही लोग महीनों खड़े ही खड़े तप करते हैं, कोई औंधे होकर तप करते हैं, कोई पेड़से पैर लटकाकर तप करते हैं, कोई कोई तो वृक्षके किनारे खड़े खड़े सो लेते हैं पर बैठते नहीं, न लेटते हैं। यों कितने ही कठिन कठिन श्रम करते हैं, पर सरल जो अंतस्तत्त्व है उसकी दृष्टि न होनेसे उनकी बाह्य बात भी सरल नहीं हो पाती तो अविकार अंतस्तत्त्वकी जिसे दृष्टि प्राप्त हुई है वह शरीरमें भी विकार नहीं करता। किसी दूसरे पदार्थका लेप करना यह शरीरमें विकार करना है। यथाजात लिङ्ग बस त्याग त्याग यह ही जिसकी धुन है, घर ममत्वका आश्रय है, घरका त्याग किया, परिजन ममत्व के आश्रय होते हैं उनका त्याग किया, कुटुम्ब देश जन मित्र जन जो जो भी उसे बाधक जंचे आत्मतत्त्वको छोड़कर बाकी परद्रव्य सब बाधक जंचते हैं उनको त्यागता है। हाँ जो आत्मविकास कर चुके आत्मविकासमें चल रहे उनकी भक्ति अवश्य रख रहे, कब तक? जब तक इसके सविकल्पता है और वह भी रख रहा है अविकार स्वरूपके विकासकी भावनासे तो जो मुमुक्षु साधुजन हैं उनका अभिप्राय मात्र आत्मविकासका है, अन्य कुछ लौकिक चाह नहीं है। ख्याति लाभ पूजा प्रतिष्ठा आदिककी चाहसे वह बहुत दूर है। दुनियामें नाम कराना और उस स्वागत आदिक आदिकमें हर्ष मानना ये सब बहुत तुच्छ बातें हैं। यह मुनि जनोंमें होती ही नहीं, तो ऐसे ही मुनिपना एक प्रभुके बादका हल्का पद है। वह तो निर्दोष ही होना चाहिए। जिसको निरखकर श्रावक उपासक यह समझ सके कि मोक्ष मार्ग तो यह है। तो इस तरह इन तीन लिङ्गोंमें रहकर यथाशक्ति ये मुमुक्षु आत्मा उपासना करते हैं और मोक्षमार्गमें अपनी प्रगति बनाते हैं।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ २५ ॥

(१३७) **सम्यग्दृष्टि मार्गसंयुक्त महिलाओंकी निष्पापता**—अनंतरपूर्व गाथामें बताया था कि स्त्रियोंके देहमें, योनिके मध्य भाग कक्ष आदिकमें सूक्ष्म काय वाले जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, ऐसी स्त्रियोंको दीक्षा कैसे हो सकती है? इसपर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है तो क्या स्त्रियाँ अपना कल्याण नहीं कर सकतीं? उसीके समाधानमें यह गाथा कही जा रही है कि स्त्रियोंमें जो स्त्री यथार्थ जैन दर्शनकी श्रद्धा करके शुद्ध है अर्थात्

जिसके विपरीत अभिप्राय नहीं रहा, सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है और सम्यक्से संयुक्त है, जैन दर्शनके चरणानुयोगके अनुसार अपनी चर्यामें प्रवृत्ति रहती है और आत्मस्वरूपका ध्यान रखती है एवं घोर चारित्र तपश्चरण आदिक करके पापरहित है सो वह स्त्री भी पापी नहीं है, किन्तु आत्मकल्याण करनेमें वह समर्थ है । इस प्रकरणमें यह बात जानना कि मोक्ष मिले इस योग्य तो पुरुषार्थ स्त्रीसे नहीं बन पाता, फिर भी आत्मकल्याणके लिए यथासंभव उसका पुरुषार्थ बनता है और कितनी ही स्त्रियां तो द्रव्यलिङ्गको छेदकर स्त्रीलिङ्गसे छूट जाती हैं और शीघ्र ही कुछ ही भवमें मनुष्यभव पाकर दिगम्बर मुनि मुद्रामें आत्मध्यानकी साधना करके मोक्षको भी पा सकेंगी । इससे स्त्री भी कल्याणकी अधिकारी है । श्रावककी जो ११ प्रतिमायें बतायी हैं उनका उत्कृष्टसे उत्कृष्ट आचरण कर लेती हैं । ११वीं प्रतिमाके जो दो भेद हैं—(१) क्षुल्लक, (२) ऐलक, अर्जिका ऐलकके रूपमें हैं इतनेपर भी चूंकि स्त्री पर्याय में हैं, उस ही ढगका देह है तो शिथिलता बनती हैं, इसलिए स्त्रियाँ मोक्षको अधिकारिणी नहीं हो पातीं और मुनिदीक्षा लेनेके योग्य भी नहीं हैं ।

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ।। २६ ।।

(१३८) स्त्रियोंके समुचित ध्यान न हो सकनेका कारण चित्ताविशुद्धि—इस गाथा में कहा जा रहा है कि स्त्रियोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं है । उनके उत्तम ध्यान नहीं बन पाता, उसका कारण है कि स्त्रियोंके चित्तमें विशुद्धि नहीं बनती । दूसरा कारण है कि वे स्वभावसे ही शिथिल परिणाम वाली हैं । तीसरा कारण यह है कि मासिकधर्मकी शंका उनके सदा बनी रहती है । इस कारण स्त्रियोंके उत्तम ध्यान नहीं बन सकता, उनके चित्त शुद्धि नहीं होती, ऐसा जो यहाँ कहा है इससे यह जाहिर होता है कि जो मायाचारका अनेकों जगह कथन आता है उसके कारण स्त्रियोंके चित्तमें शुद्धि नहीं बनती और उनका मायाचार उस भवमें उनकी प्रकृतिसे ही चल रहा है । इसका तो उदाहरण तक भी दिया है अरहंत भगवान के विहार आदिक वाले कि अरहंत भगवानके इच्छा नहीं है फिर भी उनका विहार होता है, ऐसा ही स्वभाव है, प्रकृत्या होता है, जैसे कि स्त्रियोंमें मायाचार प्रकृत्या होता है । स्त्रियोंके मायाचारकी प्रकृत्यज्ञतापर दृष्टान्तमें लिया गया है याने मायाचारी करना स्त्रियोंके लिए बड़ी सुगम बात है । उनकी कोई उस भवकी देन है कि जो मायाचारी छल कपटकी बात जरासी देरमें बना सकती हैं । कोई स्त्री मान लो कम छल कपटमें रहती है, न भी करे तो भी भीतरका संस्कार उस भवमें मिटता नही है, इस कारण चित्तकी विशुद्धि उतनी नहीं हो सकती जो मोक्षकी अधिकारिणी बन सकें । और मोक्षके लायक उत्कृष्ट ध्यान बन सके ।

Version 1

(१३९) **स्त्रियोंके समुचित ध्यान न हो सकनेका द्वितीव व तृतीय कारण**—स्त्रियों के ध्यान समीचीन न होनेका दूसरा कारण है कि उनके स्वभावसे ही शिथिलता है। शरीर की कोमलता, भावोंकी शिथिलता, इससे भी उत्तम ध्यान नहीं बनता। यद्यपि इसका कुछ अपवाद भी है याने अनेक स्त्रियाँ ऐसी दृढ़ परिणाम वाली हुई हैं कि जो एक आदर्श है फिर भी स्त्री पर्याय जन्य कुछ न कुछ बात अन्दर रहती ही है। जैसे एक चक्रवर्तीकी लड़की जो अगले भवमें लक्ष्मणकी स्त्री विशल्या बनी वह पहले भवमें चक्रवर्तीकी लड़की थी और उसे विद्याधर हर ले गया। पीछेसे सेना भी दौड़ाई गई तो वह विद्याधर डरके मारे उस कन्याको एक भयानक जंगलमें छोड़कर चला गया। उस जंगलमें खाने-पीनेका कुछ ढंग ही न था और न कोई उस जंगलमें ढूँढ़ सकनेमें समर्थ था, वहाँ वह दृढ़तापूर्वक रही और उपवास आदिक किया, कुछ हजार वर्ष तक ऐसे ही उसको समय गुजारना पड़ा। एक दिनका संयोग कि बहुत ढुंढ़ावे पड़ रहे थे। तो एक बार स्वयं उसका पिता उसी वनमें पहुंचा और तब एक अजगरने उस कन्याको ग्रस लिया था। आधा अंग ग्रस चुका था इतनेमें वह पिता पहुंचा और उसने उस अजगरके टुकड़े करना चाहा ताकि कन्याको जीवित निकाला जा सके, मगर वह कन्या हाथ उठाकर विनती करने लगी कि आप इसे न मारें, इसको अभयदान दीजिए। तो स्त्रियोंमें अनेक दृढ़ परिणाम वाली स्त्रियाँ भी होती हैं, पर प्रायः स्वभावतः उनमें शिथिल परिणामकी अधिकता पायी जाती है। दूसरा कारण यह है कि जिससे स्त्रियोंको उत्कृष्ट ध्यान की सिद्धि नहीं होती। तीसरा कारण है मासिकधर्म। उसकी शंका रहती है और उस शंका के कारण, उस ओर भीतरी संस्कारके कारण उनका ऊँचा ध्यान नहीं बन सकता और उत्तम ध्यान बने बिना केवलज्ञान कैसे होगा और केवलज्ञान हुए बिना मोक्ष कैसे होगा? इससे उनको मुनिदीक्षाका अधिकार नहीं, फिर भी जैसे पूर्व गाथामें बताया कि जो स्त्री सम्यग्दर्शन से संयुक्त है, तपश्चरण आदिक भी करती है वह पापक नहीं कही जाती।

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण।
इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

(१४०) **मुनि जनों द्वारा ग्राह्य पदार्थोंमें भी अल्पग्राह्यता**—मुनि जन जो आत्माके अर्थी हैं, आगमके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखते हैं उनकी मुख्य वृत्ति यह है कि ग्राह्य पदार्थ को भी बहुत अल्प ग्रहण करते हैं। जितना ग्राह्य है उससे भी अल्प ग्राह्य रहते हैं। जैसे आहार आदिक वस्तु जो कि ग्रहण किए जाने योग्य हैं उन्हें भी थोड़ा ही ग्रहण करते हैं जैसे कि कोई समुद्रमें से प्रयोजन माफिक वस्त्रप्रक्षालन आदिकके लिए थोड़ा ही जल ग्रहण करता है ऐसे ही मुनि महाराज अपना जीवन रखनेके लिए और वह भी जीवन संयमके लिए थोड़ा

आहार ग्रहण करते हैं, उनकी इच्छा दूर हो गई है इससे उसी समय सारे दुःख दूर हो गए, और आगे दुःख मूलतः दूर होंगे ही ? जिसको संतोष है सुखी वह ही कहलाता है। बाहरी पदार्थ कितने ही किसीके पास हों और संतोष नहीं है तो वह सुखी नहीं है। और जिस ही समय किन्हीं बाहरी पदार्थोंकी इच्छा हो जाय, तृष्णा हो जाय तो उसका संतोष खत्म है और इस कारण वह दुःखी हो जाता है। वस्तुतः तो संतोषी ही सुखी है। तो मुनिके अब इच्छा नहीं रही, विषय सम्बंधी इच्छा तो रंचमात्र भी नहीं है, वह देहसे भी विरक्त है इस कारण करे उसे उत्कृष्ट संतोष है। तो ऐसे उत्कृष्ट संतोष वाला साधु जब कभी ग्राह्य आहारको ग्रहण तो वह अल्प ही ग्रहण करता है, क्योंकि उसे परम संतोष है। और जो परम संतोषी है वह परम सुखी है। यह संतोष उस मुनिको मिला कैसे ? तो जिनसूत्रके श्रद्धानसे प्राप्त हुआ है।

(१४१) **विवेकियोंका तृतीय नेत्र परमागम**—आगमसे सब जाना अपने आत्माका स्वरूप और अनुभवसे परखा और एक निर्णय बनाया कि हमको तो मात्र आत्मस्वरूपमें मग्न होना है, दूसरा मेरे करने लायक कुछ नहीं। तो ऐसा आगमका श्रद्धान होनेसे उनका यह दृढ़ निर्णय हुआ कि जो आगममें बताया है उस विधिसे अपनी चर्या रहे तो मुक्तिका लाभ हो सकता है। तो मुक्तिके मार्गमें विशेषतया लगनेका कारण है आगमका अभ्यास। आगम तो नेत्र बताया गया। जैसे कोई पुरुष नेत्रहीन हो तो वह यथेच्छ गमन नहीं कर सकता ऐसे ही जो पुरुष आगमहीन है वह आत्मकल्याणके मार्गमें गमन नहीं कर सकता। देखने वाला पुरुष आँखोंसे मार्गको शोधता हुआ बड़े आरामसे गमन करता है ऐसे ही आगमका जिसको ज्ञान है ऐसा संत पुरुष हित अहित हेय, उपादेयका भले प्रकार निर्णय करके अपनी चर्यामें प्रवृत्त होता है। तो आगम नेत्र बिना यह जगत अंधा है, इस कारण जिनको मुक्तिमार्गमें चलना है उनका यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे जिनशासनका, आगमका भले प्रकार अभ्यास करें।

(१४२) **चारों अनुयोगोंके अभ्याससे मार्गकी स्पष्टता**—यह आगम चार अनुयोगोंरूप है। चार ही अनुयोंगोंमें आत्माको स्वभावकी ओर लगनेकी प्रेरणा मिलती है। प्रथमानुयोगमें जब महापुरुषोंके चरित्र जाना कि कैसे उनका जीवन चला, कैसे वे इन बाह्य पदार्थोंसे विरक्त हुए और सदाके लिए शान्ति प्राप्त की। खुदके लिए भी उमंग जगती है कि मैं भी सर्वसे विरक्त होकर अपने आपमे शान्तिका लाभ लूं। करणानुयोगका जब अध्ययन चलता है और कर्मोंकी दशाका बोध होता और उसके अनुसार आत्मामें जो प्रतिफलन है उसकी असारता जानी जाती ये सब कर्मसे भिन्न हैं तब परभावसे उपेक्षा होकर शाश्वत स्वभावमें उसकी दृष्टि लगती है। चरणानुयोगमें तो वह स्पष्ट अनुभव करता है कि बाह्‌य पदार्थोंका परिहार

Version 1

करनेसे व्यक्त विकारका अभाव होता है और इस उपायसे व्यक्त विकारको दूर करनेके पश्चात् इस ही ज्ञानदृष्टिके बलसे अव्यक्त विकार भी दूर हो जाते हैं। तो चरणानुयोगकी वृत्तिसे उसने अपना हित पंथ निर्णीत किया। द्रव्यानुयोग दो भागोंमें विभक्त है—(१) दार्शनिक शास्त्र और (२) आध्यात्मिक शास्त्र, और दोनों ही एक दूसरेके पूरक हैं, अगर अध्यात्मका लाभ नहीं है तो दर्शनशास्त्र पढ़नेका लाभ क्या ? और दर्शनशास्त्रका बोध नहीं तो अध्यात्म तत्त्वका सयुक्तिक निर्णय नहीं बन पाता। तो अंतस्तत्त्वका भली-भाँति निर्णय करके यह जीव आत्मकल्याणमें प्रवृत्त होता है। यह द्रव्यानुयोगके अध्ययनका फल है, तो इस प्रकार आगमके अभ्यासका बहुत बड़ा महत्त्व है, उसके बिना कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकती। यद्यपि भले ही कुछ मुनियोंने जिन्होंने विशेष अभ्यास नहीं किया, केवल अष्ट प्रवचन मात्रका ही जिनको बोध था वे भी संसारसे तिर गए। वे भी जब क्षपक श्रेणीमें आये होंगे तो श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम बहुत बढ़ता था। उस समयके लिए आगमका बोध हुआ ही होता और ऐसे विरले ही पुरुष हैं। बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ तो आगमके अभ्यासका किया जायगा, सो आगमका अभ्यास करके अपने आपको हितपंथमें लगाना यह इस जीवनका सर्वोपरि कार्य है।

(१४३) **आगमज्ञानके पौरुषमें सूत्रपाहुडकी परमभक्ति**—यह सूत्रपाहुडकी अंतिम गाथा है। सूत्र मायने आगम। आगमके विषयमें बहुत कुछ वर्णन करके यह द्वादशांगमें आगम है और इससे भी कुछ और आगम है जिसे अंगबाह्य कहते हैं इस कारण आगमका बहुत बड़ा विस्तार है। उस आगमके पूर्ण पाठी श्रुतकेवली होते हैं। उस आगममें जो विषय है उसके अभ्यासी श्रुतकेवलीके मुखसे जैनाचार्य मुनियोंने उपदेश सुना, उसके अनुसार शास्त्र भी रचे गए हैं और आज जो शास्त्र अध्ययनमें आ रहे हैं वे सब द्वादशांग वाणीकी वस्तुके विषय हैं। उस यथार्थ तत्त्वका ज्ञान करके अपनेको अपने अन्तः स्वरूपका मनन करना है। बाह्य पदार्थविषयक समस्त विकल्पोंका त्याग करना है। यही इस सूत्रपाहुडकी उत्तम भक्ति है। अन्य आगमसे वास्तविक निवृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि इस आगमसे जैनशासनने वस्तुका स्वरूप यथार्थ बताया है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है। उत्पाद व्यय करना भी स्वभाव है, आत्मामें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। तो उत्पाद व्यय वाली अवस्थासे नेह लगाकर, उसे ही सर्वस्व शरण समझकर उसमें ही अटक जाना, यह ध्येय न होना चाहिए, किन्तु अपना परिणमन बनाना चाहिए। इन सब बातोंके लिए आगमका अभ्यास अध्ययन द्वारा, पठन पाठन द्वारा, स्वाध्याय द्वारा, तत्त्वचर्चा आदिक द्वारा अभ्यास बढ़ाना। यह आगमका अभ्यास हम सबको सन्मार्ग प्रकाशित करेगा।

॥ सूत्रपाहुड प्रवचन समाप्त ॥

अपनी बातचीत

अयि आत्मन् ! तू क्या है ? विचार ! ज्ञानमय पदार्थ !! तेरा इन दृश्योंके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ ? नहीं, नहीं, कुछ भी सम्बन्ध नहीं। क्यों नहीं ? यों कि "कोई किसीका कुछ भी परिणमन कर नहीं सकता।"

मैं ज्ञानमय आत्मा हूं, हूं, स्वयं हूं, इसीलिये अनादिसे हूं, मैं किसी दिन हुआ होऊँ, पहिले न था यह बात नहीं। न था तो फिर हो भी नहीं सकवा।

फिर ध्यान दे—इस नर जन्मसे पहिले तू था ही ! क्या था ? अनन्तकाल तो निगोदिया था। वहाँ क्या बीती ? एक सेकिण्डमें २३ बार पैदा हुआ और मरा। जीभ, नाक, आँख, कान, मन तो था ही नहीं और था शरीर। ज्ञानकी ओरसे देखो तो जड़सा रहा; महासंक्लेश ! न कुछसे बुरी दशा। सुयोग हुआ तब उस दुर्दशासे निकला।

पृथ्वी हुआ तो खोदा गया, कूटा गया, ताड़ा गया, सुरंगसे फोड़ा गया।

जल भी तो तू हुआ, तब औटाया गया, बिलोरा गया, गर्म आगपर डाला गया।

अग्नि हुआ, तब पानीसे, राखसे, धूलसे, बुझाया गया, खुदेरा गया।

वायु हुआ, तब पंखोंसे, बिजलियोंसे ताड़ा गया, रबर आदिमें रोका गया।

पेड़, फल, पत्र जब हुआ, तब काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया।

कीड़े भी तुम्हीं बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी। बताओ कौन रक्षा कर सका ? रक्षा तो दूर रही, दवाइयाँ डाल-डालकर मारा गया, पत्थरोंसे, जूतोंसे, खुरोंसे बोचा व मारा गया।

बैल, घोड़े, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ। कैसे दुःख भोगे ? भूखे प्यासे रहे, ठंडों मरे, गर्मियों मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये।

शूकर मारे जाते हैं चलते फिरतोंको छुरी भोंक कर। कहीं तो जिन्दा ही आगमें भूने जाते हैं।

यह दूसरोंकी कथा नहीं, तेरी है। यह दशा क्यों हुई ? मोह बढ़ाये; कषाय किये; खाने, पीने, विषयोंकी धुन रही; नाना कर्म बांधे; मिथ्यात्व, अन्याय अभक्ष्यसेवन किये। बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला तब यहाँ भी मोह राग द्वेष विषय कषायकी ही बात रही। तब···जैसे मनुष्य हुए, न हुए बराबर है।

कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट, महान् धनपति होकर अनेक संपदा पाई, परन्तु वह सभी संपदायें थीं तो असार और क्लेशकी कारण। इतनेपर भी उन्हें

Version 1

छोड़कर मरना ही तो पड़ा।

अब तो पाया ही क्या ? न कुछ। न कुछमें व्यर्थ लालसा रखकर क्यों अपनी सर्वं हानि कर रहे हो ?

आत्मन् ! तू स्वभावसे ज्ञानमय है, प्रभु है, स्वतंत्र है, सिद्ध परमात्माकी जातिका है। क्या कर रहा ? उठ, चल, अपने स्वरूपमें बस।

तू अकेला है, अकेला ही पुण्य-पाप करता, अकेला ही पुण्य-पाप भोगता, अकेला ही शुद्ध स्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता।

देख ! चेत ! पर पर ही है, परमें निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयंमें आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है।

वह तू ही तो स्वयं है। परकी आशा तज, अपनेमें मग्न होनेकी धुन रख।

सोच तो यही सोच—परमात्माका स्वरूप····उसकी भक्तिमें रह। लोगोंको सोच, तो उनका जैसे हित हो उस तरह सोच।

बोल तो यही बोल—शुद्धात्माका गुण गान····इसकी स्तुतिमें रह। लोगोंसे बोल तो हित, मित, प्रिय वचन बोल।

कर तो ऐसा कर जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बनाओ।

तू शुद्ध चैतन्यस्वभावी है; सहज भावका अनुभव कर। जप, जप—शुद्धचिद्रूपोऽहम्।

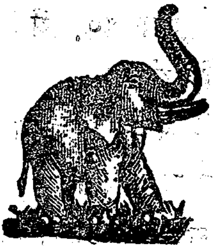

मुद्रकः—मैनेजर, शास्त्रमाला प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

आत्म-कीर्तन

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।। टेक ।।
मैं वह हूं, जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।१।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।
सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूं अभिराम ।।५।।

……

※ आत्म-रमण ※

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं,
मैं सहजानन्दस्वरूपी हूं ।। टेक ।।

हूं ज्ञानमात्र परभावशून्य,
हूं सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ।
हूं सत्य सहज आनंदधाम,
मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ।।१।।
हूं खुदका ही कर्ता भोक्ता,
परमें मेरा कुछ काम नहीं ।
परका न प्रवेश न कार्य यहां,
मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निजमें,
निजकी निजमें दुविधा ही क्या ।
निज अनुभव रससे सहज तृप्त,
मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ।।३।।

Version 1